श्री मानतुंगाचार्य विरचित 'भक्तामर' नामधेयमादिनाथ स्तोत्रम्

अनुवाद : उपाध्याय विद्यानन्द मुनि

किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा,
युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तमस्सु नाथ।
निष्पन्न शालिवनशालिनि जीवलोके,
कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः॥

हे नाथ, जब तुम्हारा मुखचन्द्र अन्धकार को अस्तित्वशेष कर चुका हो तब क्या सरोकार है मुझे सूरज से, चन्दा से; ये होनेवाले दिन से, रात से। जब धान के खेत सहज ही पक चुके ... कादम्बिनी (सजल मेघमाला, जल के भार से विनम्र बादल) व्यर्थ है।

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु।
तेजःस्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि॥

जिस सहज-सम्यक् ज्ञान से तुम अभिमण्डित हो, उस आभा का सौवाँ भाग अन्य देवताओं को उपलब्ध नहीं है; जो नैसर्गिक प्रभा रत्न-मणियों में होती है, वह शोभा-सुषमा सूर्यरश्मियों से ज्योतिर्मान काँच के टुकड़े में कैसे सम्भव है? (अन्ततः स्वभाव स्वभाव है, विभाव विभाव; उधार मिली रोशनी और मौलिक ज्योति के भेद को कौन मिटा सकता है?)

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः,
कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि॥

राग में फँसे देवताओं को मान मैंने अपना विशेष हित समझा, फिर स्वयं में होकर, हे प्रभो, आपकी ओर देख हृदय सन्तुष्ट हुआ; जब तुम्हें ही देख लिया है तो फिर ऐसा क्या शेष रह गया है; हे समदर्शी, जिससे मन तृप्त हो; फिर तो सर्वत्र तुम ही तुम हो, जन्मान्तरों तक अन्यों को देखने के लिए हृदय के उत्कण्ठित होने का कोई प्रश्न ही नहीं है?

[श्री ऋषभदेव दिगम्बर जैन मन्दिर, अतिशय क्षेत्र श्रीनगर
(पौढ़ी गढ़वाल) हिमालय, उ. प्र. द्वारा प्रचारित]

विचार-मासिक

सद्‌विचार की
वर्णमाला में
सदाचार का
प्रवर्तन

वर्ष ५; अंक २-३
जून-जुलाई १९७

श्रीमद्‌विजयराजेन्द्रसूरीश्वर
विशेषांक

संपादन
डा. नेमीचन्द जैन

प्रवन्ध
प्रेमचन्द जैन

सज्जा
विष्णु चिचालकर

मुद्रण
नई दुनिया प्रेस, इन्दौर

वार्षिक शुल्क : दस रुपये
प्रस्तुत अंक : सात रुपये
विदेशों में : तीस रुपये

हीरा भैया प्रकाशन
६५, पत्रकार कालोनी
कनाड़िया रोड
इन्दौर ४५२००१ (मध्यप्रदेश)
दूरभाष : ५८०४

यह विशेषांक

जून-जुलाई '७५ का प्रस्तुत संयुक्तांक "श्रीमद्‌विजयराजेन्द्रसूरीश्वर-विशेषांक" के रूप में अपने प्रवुद्ध-सहृदय पाठकों को सौंपते हुए हमें विशेष हर्ष है। प्रज्ञा-पुरुष श्रीमद्-राजेन्द्रसूरीश्वर की अनन्य ज्ञान-गरिमा और दुर्द्धर आध्यात्मिक साधना के प्रति हमारी यह एक अकिंचन श्रद्धाञ्जलि है। इसके पाँच खण्ड हैं: जीवन, परिशिष्ट, शव्द, पार्श्व-वर्द्धमान, धर्म-संस्कृति। प्रत्येक खण्ड में हमने यथासम्भव प्रचुर सामग्री समेटने का विनम्र प्रयास किया है और उपलब्ध समस्त साधन-स्रोतों का अधिकाधिक वैज्ञानिक दोहन किया है। जीवन-खण्ड के "राजेन्द्रसूरि-जीवन-वृत्त" तथा शव्द-खण्ड के "सम्पूर्ण राजेन्द्रसूरि-वाङमय" और "अभिधान-राजेन्द्र : तथ्य और प्रशस्ति" शीर्षकों के अन्तर्गत हमने लगभग सभी जानकारियों का अत्यन्त वैज्ञानिक आकलन-संयोजन किया है। तथ्य-दोहन-मन्थन के दौरान देखा गया कि श्रीमद् पर अभी तक जो कार्य हुआ है, वह भावनापरक है, भक्ति की हल्की-सी धुंध उस पर छायी हुई है और इसीलिए तथ्यों को जिस उत्साह के साथ प्रकट होना चाहिये, नहीं हो पाये हैं। अतः हमने यत्न किया है कि सम्वन्धित तथ्यों की निर्मम तलाश की जाए और राजेन्द्रसूरिजी के कृतित्व को उसके यथार्थ भा-मण्डल में प्रस्तुत किया जाए ताकि पाठकों के साथ न्याय हो सके। अकेले "अभिधान-राजेन्द्र" और उसका संक्षिप्त रूप "पाइयसद्दंवुहि", जो लगभग पौन शताव्दी से प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रही है और जिसके कुछेक पृष्ठ हमने इस विशेषांक के जीवन-खण्ड में प्रकाशित भी किये हैं, सूरिजी के अदम्य पुरुषार्थ और अद्वितीय विद्वत्ता का द्योतन करते हैं। दुर्द्धर साधुचर्या के साथ इतना प्रचुर लेखन, सच में, अचम्भे में डालनेवाला है। इस दृष्टि से अभी सूरिजी के कृतित्व का वस्तु-परक और सम्प्रदायातीत मूल्यांकन-कार्य शेष है; हमें विश्वास है, इसे पूरे सामाजिक वल और सांस्कृतिक पुरुषार्थ के साथ सम्पन्न किया जाएगा। □

क्या/कहाँ

राजेन्द्रसूरि-जीवन खण्ड (११–१०२)

परिशिष्ट (१०३–१४)

शब्द-खण्ड (१०५–५२)

पार्श्व-वर्द्धमान-खण्ड (१५३–६३)

धर्म-संस्कृति-खण्ड (१६३–१९६)

चित्र-सूची

□ □

विश्वपुरुष राजेन्द्रसूरि

जब भी हम किसी महापुरुष का मूल्यांकन करते हैं, हमारे सम्मुख उसके जीवन की और उसकी समकालीन घटनाएँ होती हैं। उसने अपने युग के साथ क्या सलूक किया, उसे कितना सहा, कितना मोड़ा, कितना पहचाना इसका लेखाजोखा ही उसके व्यक्तित्व को प्रकट करता है। उसके युग की समस्याओं और उन समस्याओं का उसकी वैयक्तिक रुचियों और क्षमताओं से कितना सामरस्य था और कितना नहीं, इसका प्रभाव भी मूल्यांकन पर पड़ता है। इस दृष्टि से जब हम राजेन्द्रसूरिजी के व्यक्तित्व की समीक्षा करते हैं तब हमें लगता है कि उनका व्यक्तित्व जागतिक था, वह किसी एक समाज या मुल्क तक सीमित नहीं था। वे खुले मन और मस्तिष्क के श्रमण थे, उनके कृतित्व में कोई ग्रन्थि नहीं थी। उनमें संकल्प की अद्वितीय अविचलता थी और वे जिस बात को भावी पीढ़ी के कल्याण में देखते थे, उसके करने-कराने में न तो कोई विलम्ब करते थे और न ही कोई भय रखते थे। अभय उनके चरित्र का एक महत्वपूर्ण गुण था। समय के बारे में उनकी नियमितता ने भी उनकी समकालीन पीढ़ी को प्रभावित किया। वे 'ठीक वक्त

पर ठीक काम' करने के पक्षधर थे। मात्र लक्ष्यपूर्ति ही उनका उद्देश्य नहीं था वल्कि वे लक्ष्यपूर्ति की संपूर्ण प्रक्रिया के प्रति अप्रमत्त, सावधान और पूर्णतः निर्दोष रहना चाहते थे। लक्ष्य की अपेक्षा उस तक पहुंचने के माध्यमों के सम्यक् और उचित होने पर उनका ध्यान सर्वाधिक रहता था; क्योंकि वे जानते थे कि आम आदमी का ध्यान प्रक्रिया की अपेक्षा लक्ष्य पर रहता है, वह लक्ष्यपूर्ति की क्या विधि है, उसकी सूक्ष्मताएं और स्वस्थताएं क्या हैं, इस पर कभी विचार नहीं करता; वह, इस या उस, किसी भी तरीके से सिद्धि चाहता है, साधनों की ओर उसकी आँख वन्द रहती है, किन्तु राजेन्द्रसूरिजी कहा करते थे कि यदि साधन स्वस्थ, पावन, सम्यक् और संतुलित हैं, और उनका योजित उपयोग हुआ है तो फिर सिद्धि की कोई चिन्ता करनी ही नहीं चाहिये, वह तो मिलेगी ही। इस जीवन-दर्शन के साथ सूरिजी ने एक हद में अनहद काम किया, विन्दु में रहकर सिन्धु जितना काम। उन्हें कोई कीर्ति-कामना तो थी नहीं, वे निष्काम और अप्रमत्त चित्त थे। एक संपूर्ण क्रान्ति के लिए संपूर्णतः समर्पित व्यक्तित्व के रूप में हम सूरिजी को देख सकते हैं।

सूरिजी की सवसे वड़ी देन जो भारतीय जीवन को है वह है "साधन-साध्य-शुचिता"। साध्य की शुद्धि और परिपूर्णता के लिए सम्यक् और त्रुटिरहित साधनों के उपयोग पर उनका निरन्तर वल रहता था। समूचे जैनधर्म का भी यही सार है। जैनधर्म के अनुसार अन्तिम लक्ष्य मोक्ष भले ही हो, किन्तु उस तक की यात्रा की जो प्रक्रिया है उसकी पावनता और परिपूर्णता के विना, क्या-कुछ हो सकता है यह निश्चय ही चिन्ता का विषय है, क्योंकि यदि साधन शुद्ध हैं, तो साध्य शुद्ध होगा और यदि साधन अशुद्ध हैं और हमारा लक्ष्य किसी उत्तम ध्येय को प्राप्त करने का है तो यह असंभव ही होगा कि हम उसे प्राप्त कर पायें। अशुद्ध साधनों से शुद्ध ध्येय की प्राप्ति असंभव है; यदि साधन शुद्ध हैं, उनकी शुद्धता का शत-प्रतिशत निर्वाह हुआ है, तो हमारे प्रयत्न करने पर भी लक्ष्य अशुद्ध नहीं हो सकता। इस तरह सूरिजी ने साधन-साध्य-संवंधों पर न केवल चिन्तन और समीक्षण किया वरन् उसे अपने जीवन में प्रत्यक्ष सिद्ध भी किया। आगे चलकर गांधीजी के रूप में यही अधिक विकसित हुआ और हमारे स्वाधीनता-संग्राम का प्रमुख आधार वना। इस तरह एक विश्वपुरुष के रूप में सूरिजी ने "साधन-साध्य-संवधों" की समीक्षा की और इस तथ्य को लोकजीवन में प्रतिष्ठित किया कि शुचिता वोने से शुचिता प्रकट होती है, अशुचिता वोने से अशुचिता; सम्यक्त्व वोकर हम असम्यक्त्व पाना चाहें या असम्यक्त्व वोकर सम्यक्त्व, तो यह संभव नहीं है। जो प्रतिपाद्य धुंधला हो गया था, सूरिजी ने उसे अधिक प्रखरता के साथ प्रस्तुत किया।

सूरिजी को विश्वपुरुष के रूप में प्रतिष्ठित करने वाला एक तथ्य है उनकी क्रान्तिधर्मिता। एक आत्मार्थी साधु होने के बावजूद भी सूरिजी किसी परम्परित-रूढ़ धातु से बने नहीं थे। वे जिस धातु से बने थे, वह खरी और कालजयी थी। उसमें खोट तो थी ही नहीं, वरन् किसी कोण पर या स्तर पर यदि प्रहार हो तो उस युद्ध में टिके रहने का पराक्रम भी था। कथनी और करनी की एकता, जो उनके समकालीन भारतीय चरित्र में विलोपित हो रही थी, सूरिजी के व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण अंश थी। उन्होंने जब यतिक्रान्ति के लिए अपनी 'नौ सूत्री' योजना घोषित की तो पहले अपने जीवन में उसे "संपूर्ण क्रियोद्धार" के रूप में लागू किया। उनका जीवन एक खुला ग्रन्थ था, जहां कोई तथ्य प्रच्छन्न नहीं था। जब वे स्वयं पालकी से नीचे आ गये, तब उन्होंने अन्य यतियों से पालकी से उतर कर चलने की बात कही। उनकी क्रान्तिधर्मिता कोरी बकवास नहीं थी, वह ठोस चारित्रिक थी।

इसके अलावा या यों कहें इसके माध्यम से वे भारतीय चरित्र को सुदृढ़ करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने अपने साथी-यतियों अथवा संपूर्ण श्रावकों को चारित्रिक पावनताओं और उज्ज्वलताओं को व्यवहार में लाने पर बल दिया। सूरिजी की क्रान्ति का सबसे जीवन्त पक्ष चरित्र है। धर्म के क्षेत्र में जिस चरित्र-रचना पर सूरिजी ने बल दिया, नयी समाज-रचना के संदर्भ में उतना ही बल उनके समकालीनों ने भी दिया। सूरिजी ने उन यतियों को जो चारित्रिक सम्यक्त्व और औचित्य से स्खलित थे, तिरस्कृत किया और आगामी क्रान्ति के लिए लोकमन और मस्तिष्क की रचना की। मन और मस्तिष्क की इस क्रान्ति के कुछ स्पष्ट खतरे और आशंकाएं थीं, किन्तु सूरिजी अभीत, अविचल और पराक्रमी व्यक्ति थे, वे एक दूरदृष्टित्व के साथ अपने रास्ते पर चलते गये और उन्हें सफलता मिली। दृढ़ता कई समस्याओं का समाधान है और चंचलता उलझनों और दुविधाओं की जननी। सूरिजी का चरित्र अचंचल, गहन और अडिग है, वे प्रतिक्षण अप्रमत्त और सावधान सन्त हैं। सुई की नोक तो बड़ा परिमाण है, वे कहीं भी चंचल नहीं हैं। गांभीर्य और 'जो कहना, वह करना' उनके व्यक्तित्व के प्रधान अंश हैं। धर्म और समाज के हर मोर्चे पर सूरिजी की सफलता का कारण उनका लौह व्यक्तित्व ही है।

सूरिजी के युग में अंग्रेजों के कारण कुछ ऐसी हवा बनी थी कि हमारा अतीत जड़, परम्परित, निष्प्राण और व्यर्थ है, उसमें कोई दम नहीं है, जो बाहर से आ रहा है, वह श्रेष्ठ है। इसलिए सूरिजी का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने भारतीय लोकजीवन में अतीत को, जो उखड़ने लगा था, पुनः प्रतिष्ठित किया और उसकी उज्ज्वलताओं को न केवल भारतीयों के समक्ष वरन् विदेशियों के समक्ष

भी सप्रमाण प्रस्तुत किया। उन्होंने अपने समकालीन जीवन में यत्र-तत्र सेंध डालकर यह हुंकृति की कि यह जो अतीत को नकारा जा रहा है, वह व्यर्थ है, भ्रामक है, भारत का अतीत सशक्त है, उज्ज्वल है, प्रेरक है, सार्थक है, वह केवल देश के वुझते हुए दीये ही नहीं वरन विदेशों के निष्प्राण दीयों में भी जान डाल सकता है। सूरिजी ने, इस पर कि कौन कहाँ क्या कर रहा है विना ध्यान दिये अपना कर्तव्य किया और चारित्रिक प्रामाणिकता और शुचिता को लाने के अपने मिशन में वे पूरी ताकत से जुटे रहे। उनकी "तीनथुई-क्रान्ति", जो है धार्मिक, किन्तु वह भी उनकी इसी व्यापक क्रान्ति का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। इसके द्वारा उन्होंने लोगों को तर्कसंगत बनाया और अन्धविश्वासों से मुक्त किया।

भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा गुण है समन्वय। उसने अब तक विश्व-संस्कृति की जितनी विविधताओं को पचाया और आत्मसात किया है, संसार की ऐसी और कोई संस्कृति नहीं है जो इस तरह विषपायी और अमृतवर्षी हो। उसने जहर पिया, अमृत बाँटा, यही उसके मृत्युंजयी होने का एक बहुत बड़ा कारण भी है। सूरिजी ने भी वही किया जहर पिया और अमृत बाँटा, कांटे सहे, और फूल दिये; अंधकार के बीच से गुजरकर प्रकाश देना भारतीय संस्कृति का अप्रतिम व्यक्तित्व है। श्रमण संस्कृति के उज्ज्वल और जीवन्त प्रतीक के रूप में सूरिजी ने विश्वसंस्कृति को जो दिया है, वह अविस्मरणीय है। "अभिधान राजेन्द्र" उनकी विश्व-संस्कृति को इतनी बड़ी देन है कि उसे कभी भुलाया नहीं जा सकेगा। सूरिजी का समग्र जीवन और उसका जीवन्त प्रतिनिधि "अभिधान-राजेन्द्र" विश्व-संस्कृति का अविस्मरणीय मंगलाचरण है। जिस व्यक्ति ने अपने तपोनिष्ठ आचरण से शस्त्रागारों को शास्त्रागारों में वदला हो, संचार और यातायात की असुविधाओं के होते हुए भी जिसने अपनी चारित्रिक निर्मलताओं से अन्धविश्वासों, अरक्षाओं, रूढ़ियों और अन्धी परम्पराओं में धंसी मानवता को पैदल घूम-घूमकर निर्मल और निष्कलंक बनाया हो, उसके प्रति यदि वन्दना में हमारी अंजलियाँ नहीं उठतीं और उसके जीवन से यदि हम प्रेरणा नहीं लेते तो न तो हमसे बड़ा कोई कृतघ्नी होगा और न कोई अभागा। दुर्भाग्य है कि हम अपने दीये से प्राय: रोशनी नहीं लेते, दूसरों के दीये से, जो अक्सर वुझे हुए ही होते हैं, रोशनी लेने का यत्न करते हैं, क्या हम अपने घर के दीयों को पहिचानने का फिर एक प्रयास करेंगे? क्योंकि आज हम फिर एक ऐसे मोड़ पर आ खड़े हुए हैं जहाँ अंधेरा है, अनिश्चय है, और असंख्य संदेह हैं। □

जीवन-शिल्पी श्रीमद् राजेन्द्रसूरि

शब्द तभी कारगर होते हैं जबकि आप उन्हें जीयें। शब्दों को केवल बोलेंगे या लिखेंगे—भले ही आप शिलाओं पर लिखें या ताँबे की मोटी प्लेटों पर खोद लें—तो भी वे निकम्मे ही साबित होंगे। मनुष्य के जीवन का यह राज श्री राजेन्द्रसूरि समझ गये थे, अतः उन्होंने जैनागम की सारी शब्द-छेनियाँ एकत्र की, उनके सही अर्थ खोजे और शब्द निकम्मे नहीं हो जाएँ, ढपोरशंख ही नहीं बने रहें, अतः उन्होंने शब्दों को जीना शुरू किया और धीरे-धीरे वे कई बढ़िया शब्द अपने जीवन में उतार ले गये।

□ **माणकचन्द कटारिया**

शब्दों से अर्थ-किरण फूटती हैं और ज्ञान का प्रकाश फैलता है, पर ऐसे धूमिल युग भी आते हैं जिनमें मनुष्य का जीवन-व्यवहार अर्थ-किरणों को काट देता है और शब्द निस्तेज बनकर हवा में लटकते रहते हैं। जैसे कोई ग्रहण-लगा सूर्य हो—रोशनी फीकी पड़ गयी है, सूर्य की आभा को किसी ने रोक लिया है। मनुष्य धूप से बचने के लिए अपनी आँखों पर गॉगल्स (काला चश्मा) भले ही लगा ले, पर उसे ग्रहण कभी अच्छा नहीं लगता वह चाहता है कि उसका सूर्य, उसका चाँद जल्दी-से-जल्दी ग्रहण से मुक्त हो ले; लेकिन अभी हमें 'शब्द-ग्रहण' नहीं साल रहा है। शायद हम समझ ही नहीं पाये हैं कि हमारे कुछ बेशकीमती शब्द ग्रहण की चपेट में हैं। पर श्रीमद् राजेन्द्रसूरि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'शब्द-ग्रहण' नहीं सह सके और उन्होंने अपनी पूरी शक्ति जैनागम के अर्ध-मागधी भाषा में बिखरे बहुमूल्य शब्दों के चयन में लगा दी। उनके संस्कृत रूपों को खोजा, शब्द की व्युत्पत्ति मालूम की और उनकी अर्थ-किरणों को फैलाया। वे शब्द चुनते गये—सम्पूर्ण जैन साहित्य का एक एनसाइक्लोपीडिया—विश्व-कोश तैयार हो गया। उनके जीवन-काल में तो वह नहीं छप सका, पर जब बाद में छपा तो बड़े आकार के सात खण्ड छपकर सामने आये ९,२०० पृष्ठ।

श्री राजेन्द्रसूरि साधु स्वभाव के थे, अध्ययनशील जिज्ञासु थे, खूब अनुशीलन करते थे, ४२ वर्ष की अवस्था से ही शुद्ध मुनि-जीवन जीने लगे थे। बड़ी छोटी उम्र से साहित्य-रचना करने लगे थे—दर्शन, साहित्य और धर्म के ६१ ग्रन्थों की रचना उन्होंने की है। ऐसा उद्भट विद्वान्, चिन्तक, साधक, अपरिग्रही साधु, शब्द-कोश के मोहजाल में क्यों पड़ा, इसकी जड़ में आप जाना चाहें तो दो बातें स्पष्ट हैं: एक तो यह कि शब्द का निस्तेज हो जाना, अर्थहीन बन जाना उसे चुभा और दूसरे उसने समझा कि जिन छोटी-छोटी बातों को करने का आदेश ये शब्द देते हैं, उन्हें करने से मनुष्य कतरा रहा है; और यों जड़ बनता जा रहा है।

जीवन-शिल्पी के लिए शब्द बहुत महत्त्व रखते हैं। वही तो उसकी छैनी है जो मनुष्य को तराशती है। उसका सारा फाजिल (निकम्मा) बोझ काट-काट कर उसे काम का बनाती है। पर जब शब्द बोथरा जाएँ तो जीवन-शिल्पी क्या करे? श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी ने शब्दों की छैनियाँ, जो बोथरा गयी थीं, फिर से पैनी बनायीं और मनुष्य के हाथ में थमा दीं कि लो इनसे अपने को तराशो, जिस बोझ को ढो रहे हो उसे काटो, और खालिस बनो, निर्भय बनो तथा बन्धन-मुक्त हो जाओ। उन्होंने अपनी युवावस्था में यही काम किया। उन सारी परम्पराओं को तोड़ा जिसमें उस युग का मनुष्य–आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले का मनुष्य–घिरा हुआ था। धर्म-संसार का वह एक सामन्ती युग था। यति-परम्परा। धर्म-प्रतिमानों की गादियाँ एक यति से दूसरे यति के हाथ लगतीं और वहाँ वह सब चलता जिसमें मनुष्य बाहर से गदराता है और भीतर से सूखता है। जीवन-शिल्पी राजेन्द्रसूरि यति-परम्परा की इस आरामदेह गादी में कैसे धंसते? वे तो जैनागम के बहु-मूल्य शब्दों के पुष्ट धरातल पर खड़े होने का हौसला रखते थे। यति-परम्परा के साथ जुड़े ये शब्द उन्होंने नहीं छुए–यंत्र-तंत्र-मंत्र, हाथी-घोड़ा-पालखी-रथ, शस्त्र, सैन्य, भांग-गांजा आदि व्यसन, शृंगार की वस्तुएँ, धन का वैभव, चौपड़ आदि जुआ और स्त्री-संसार। चूँकि यति-परम्परा इन शब्दों के आसपास चल रही थी और उसकी डोरियाँ इन्हीं से बंधी थीं, इसलिए उसने यति-परम्परा का घेरा तोड़कर अपने को उससे मुक्त कर लिया। उस युग का यह अति पराक्रमी कदम है। आज तो यह हालत हुई है कि मनुष्य अपना अति मामूली वैभव भी उठाकर फेंकने की हिम्मत खो बैठा है। यदि उसमें से थोड़ा-बहुत देता भी है तो पूरे जीवन उस देने के ही अहंकार को ढोता फिरता है। पर श्री राजेन्द्रसूरिजी ने बड़ी हिम्मत के साथ यति-परम्परा को तिलांजलि दी और साधना की एक नयी लीक कायम की।

श्रीमद् राजेन्द्रसूरि शब्दों के माली थे। जो शब्द-पुष्प उन्होंने चुनकर माला गूँथी वे ये हैं: विनय, उदारता, धीरज, प्रेम, दया, विवेक, विश्व-बंधुत्व, स्वतंत्रता, आत्म-शक्ति, संयम, आत्मविश्वास, इन्द्रिय-विजय, क्षमा, निराकुलता, मृदु वाणी, चारित्र्य, पुरुषार्थ, सहन-शक्ति, संतोष, निराग्रह, गुण-दर्शन, अच्छी संगति, सावधानी, उद्यम, परिश्रम आदि।

मनुष्य के जीवन को छेदनेवाले काँटे वे अपनी माला में क्यों गूँथते? इसलिए शब्दों के इस महान् पारखी ने अपने घेरे से ये शब्द निकाल ही दिये:

क्रोध, तिरस्कार, अभिमान, कर्कश वचन, अविनय, अनादर, निन्दा, चुगल-खोरी, मायाचारी, लालच, यशःकामना, दुराचार, परिग्रह, कुसंस्कार, कलह, ईर्ष्या, उद्वेग, अहंकार और लालसा आदि।

अब आप पूछेंगे कि यह शब्दों को बटोरना और फेंकना क्या चीज है? क्या किसी जिल्दवाली कॉपी में अच्छे-अच्छे शब्द लिख लिये और फेंके जाने वाले

शब्द-योगी श्रीमद्राजेन्द्रसूरीश्वर

शब्द लिखकर काट दिये? इतना सरल काम शब्दों को पकड़ने और छोड़ने का होता तो हमारा पूरा-का-पूरा देश महापुरुषों का देश होता । निरक्षरों की बहु-संख्या वाले इस देश के हर आदमी को बढ़िया-बढ़िया वचन मुखाग्र हैं। कई-कई बार वह संतवाणी बोल जाता है। रामायण की चौपाइयाँ सुना जाता है । गीता के अध्याय गा लेता है। मेरी नानी भक्तामर व सूत्र का धारा-प्रवाह पाठ कर लेती थी। अच्छे शब्दों का एक छोटा शब्द-कोश उगल जाने का श्रेय हममें से हरेक ले सकता है। वचनों में क्या दरिद्रता ? इसके बावजूद भी निकम्मे शब्द, जाहिल शब्द, मनुष्य को तोड़ने वाले शब्द, उसको भ्रम में—धोखे में डालने वाले शब्द हमें चारों ओर से घेरे हुए हैं और इस दलदल में धंसा मनुष्य अपने-अपने धर्म की वाणी को बोलता और सुनता रहता है, धर्म-प्रतिष्ठानों में मारबल में खुदवा-खुदवा कर इन वचनों को सुरक्षित किये हुए है और अपना हर काम वह मंगलाचरण से ही प्रारम्भ करता है।

लेकिन आप देख रहे हैं और अच्छी तरह महसूस कर रहे हैं कि जीवन को दिशा देने वाले, ऊँचा उठाने वाले शब्द मारबल की काया पाकर भी श्री-हीन हो रहे हैं और जिन शब्दों को आप बोलते नहीं, दीवारों पर लिख-लिख कर प्रसारित नहीं करते, किताबें छाप-छाप कर जिनका भाष्य नहीं करते, वे मनुष्य के सिरमौर बन गये हैं—बल्कि उसके रक्त में बिंध कर उसकी धमनियों में दौड़ रहे हैं। 'झूठ' का यशोगान करनेवाली कोई पुस्तक आपको ढूंढे नहीं मिलेगी। 'चोरी' करना जायज है या जीवन के लिए आवश्यक है इसका प्रतिपादन करने वाले, वचन आप कहाँ से लायेंगे! निन्दा, मत्सर, ईर्ष्या, लालच, क्रोध, अहंकार आदि-आदि शब्दों की पैरवी करने वाला साहित्य कोई नहीं लिखता—हजारों वर्षों के साहित्य-इतिहास में भी भी किसी ने नहीं लिखा। पर यह क्या करिश्मा हुआ कि जो लिखा या बोला नहीं जाता वह तो जीवन में उतर गया है और हमारी सारी संत-वाणियाँ—जिनवाणी, बुद्धवाणी, कुरानसार, वेद-उपनिषद् के सूत्र, प्रभु ईसा के वचन आदि-आदि पावन-पवित्र शब्दों का अमृत हमारे लिए परम श्रद्धेय होकर भी 'ढपोरशंख' बन गया है। ढपोरशंख की एक बढ़िया कहानी है। शंख बोलता ही जाता है मिठाइयों के नाम। आदेश-पर-आदेश देता है, पर सामने न रसगुल्ला आता है, न बरफी। ऐसा ढपोरशंख वास्तव में किसी परी ने किसी मनुष्य को दिया हो या नहीं, पर मनुष्य ने अपने सारे मूल्यवान शब्दों को 'ढपोरशंख' बना डाला है।

श्री राजेन्द्रसूरि ने अपने युग में अपना सम्पूर्ण जीवन इस काम में लगाया कि जो ढपोरशंख बन गया है वह प्राण फूंकने वाला शंख बन जाए; इसलिए उन्होंने शब्द फिर से बटोरे, खोज-खोजकर निकाले और करीने से जमाकर आनेवाली पीढ़ी के हाथ अर्थ-सहित सौंप दिये। वे इतना ही करते तो कोई खास बात नहीं होती। कितने-कितने उद्भट विद्वान् हो गये हैं, जिन्होंने बृहदाकार ग्रंथों की रचना की है। इतने-इतने भारी महाग्रंथ कि आपसे उठाये नहीं उठ सकते। उसी कोटि का यह 'अभिधान राजेन्द्र कोश' और एक बोझ बन जाता। पर वे शब्दों से स्वयं जुड़ गये। उन्हें अपने आचरण में उतारा और अपने युग की उन निकम्मी परम्पराओं से अलग हट गये जो जैनागम के बहुमूल्य शब्दों को अर्थहीन बना रही थीं।

उन्होंने एक जगह लिखा है—"जीवन का प्रत्येक पल सारगर्भित है।" कुछ पल मनुष्य बढ़िया जी ले और कुछ में वह बहक जाए तो मीज़ान में बहका हुआ जीवन ही हाथ लगेगा। जीवन का टोटेलिटी—समग्रता—से संबंध है। परीक्षा में ६० प्रतिशत अंक लाकर आप प्रथम श्रेणी में आते हैं और ७५ प्रतिशत अंक लाकर विशेष योग्यता पा जाते हैं, परन्तु मैं ७५ प्रतिशत ईमानदार हूँ और केवल २५ प्रतिशत ही बेईमान हूँ तो मुझे ईमानदारी की विशेष योग्यता—डिस्टिंक्शन नहीं देते। बल्कि मुझे सरेआम बेईमान घोषित कर देते हैं। हमें जब बुखार चढ़ता है तो ऐसा नहीं होता कि १० (दस) प्रतिशत शरीर में बुखार है और ९० (नब्बे) प्रतिशत शरीर में

बुखार नहीं है। बुखार है तो सारे शरीर में है और नहीं है तो कहीं नहीं है। यह जीवन-विज्ञान है; परन्तु मनुष्य ने अपने पल बाँट लिये हैं। उसकी इवादत के घंटे पाक-पवित्र हैं और बाकी के घंटों की उसे परवाह नहीं है। सूरि कहते हैं ऐसा नहीं चलेगा। आप सारे समय जागरूक रहना होगा। उन्होंने एक बढ़िया फारमूला दिया :

अच्छे स्वास्थ्य के लिए — *मर्यादित भोजन*

अच्छे जीवन के लिए — *अनिन्दा, प्रेम और सहकार*

आत्म विकास के लिए — *शुद्ध विचार और आचार*

वे पूरे जीवन यह मानते रहे कि 'गुणविहीन नर पशु के समान है।' जैनियों ने कल्पवृक्ष की कल्पना की है। उनकी माइथॉलाजी—पुराणों में कुछ स्वर्ग ऐसे हैं जहाँ के देवताओं को सारी उपलब्धियाँ कल्पवृक्ष से होती है। अब आप देवता बन जाएँ कभी तो स्वर्ग के कल्पवृक्ष का आनन्द लीजियेगा; लेकिन मनुष्य के पास तो ऐसा कोई पेड़ नहीं है जो उसकी इच्छाओं की पूर्ति कर दे। यदि कोई हो सकता है तो सूरिजी की भाषा में—'मनुष्य का कल्पवृक्ष है संयम'। तीन शब्दों का यह छोटा-सा वाक्य आपको पुरुषार्थ के मैदान में खड़ा कर देता है। यही पुरुषार्थ उन महापुरुष ने जीया और अपनी करनी से शब्दों को पुष्ट करता गया। श्री राजेन्द्रसूरिजी ने बहुत लिखा है। जीवन जीते गये और अनुभूत बातें लिखते गये। वे जीवन-शिल्पी थे। शब्द की छैनी लेकर जमीन गढ़ने में लगे थे। उनके द्वारा व्यक्त विचारों का थोड़ा जायजा लीजिये :

'हाथों की शोभा सुकृत-दान करने से, मस्तिष्क की शोभा हर्षोल्लासपूर्वक वंदन-नमस्कार करने से, मुख की शोभा हित-मित और प्रिय वचन बोलने से, कानों की शोभा आप्त पुरुषों की वचनमय वाणी श्रवण करने से, हृदय की शोभा सद्भावना रखने से, नेत्रों की शोभा अपने इष्टदेवों के दर्शन करने से है। इन बातों को भली विधि समझ कर जो इनको कार्यरूप में परिणत कर लेता है वही अपने जीवन का विकास करता है।'

'शास्त्रकारों ने जाति से किसी को ऊँच-नीच नहीं माना है, किन्तु विशुद्ध आचार और विचार से ऊँच-नीच माना है। जो मनुष्य ऊँचे कुल में जन्म लेकर भी अपने आचार-विचार घृणित रखता है वह नीच है और जो अपना आचारविचार सराहनीय रखता है वह नीच कुलोत्पन्न होकर भी ऊँच है।'

'दूसरों के दोष देखने से कुछ हाथ नहीं आयेगा।'

'परिग्रह-संचय शांति का दुश्मन है, अधीरता का मित्र है, अज्ञान का विश्राम-स्थल है, बुरे विचारों का क्रीड़ोद्यान है, घबराहट का खजाना है, लड़ाई-दंगों का निकेतन है, अनेक पाप कर्मों की कोख है और विपत्तियों की जननी है।'

'मनुष्य मानवता रख कर भी मनुष्य है। मानवता में सभी धर्म, सिद्धांत, सुविचार, कर्तव्य, सुक्रिया आ जाते हैं। मानवता सत्संग, शास्त्राभ्यास एवं सुसंयोगों से ही आती है और बढ़ती है। मनुष्य हो तो मानव बनो।'

'मनुष्य हो तो मानव बनो'—इस टुकड़े पर हमारा ध्यान जाना चाहिये। मानव बनना एक प्रक्रिया है जिसमें से सारे मनुष्य नहीं गुजर रहे हैं। गुजर भी रहे हों तो सारे समय नहीं गुजर रहे हैं। मारबल को एक बार तराश कर अच्छा शिल्पी कायम करने के लिए बढ़िया प्रभावी वीतरागी मूर्ति गढ़ सकता है, लेकिन मनुष्य के जीवन का तो ऐसा नहीं होता। उसे तो निरन्तर खुद को गढ़ते ही रहना पड़ता है। हर समय उसके आसपास निकम्मी चीजें ढेर की ढेर आती हैं। काँटे उगते ही रहते हैं। विष बनता ही रहता है। विकारों का तूफान उठता ही रहता है। ऐसे में जीवन-शिल्पी क्या करे? क्या यह जरूरी नहीं है कि उसकी छैनियाँ निरन्तर चलती रहनी चाहिये। जितना निकम्मा हिस्सा उसके मन के आसपास उगता जाए वह अपनी छैनी से उसे काटता जाए। 'शब्द' ही मनुष्य की छैनी है—वे शब्द जिनके सहारे वह अपने जीवन में उतरा है। हर मनुष्य के पास कुछ वचन हैं, जो उसके लिए आराध्य बने हैं। पर महज शब्दों से कुछ नहीं होगा। शब्द तभी कारगर होते हैं जबकि आप उन्हें जीयें। शब्दों को केवल बोलेंगे या लिखेंगे—भले ही आप शिलाओं पर लिखें या ताँबे की मोटी प्लेटों पर खोद लें—तो भी वे निकम्मे ही साबित होंगे। मनुष्य के जीवन का यह राज श्री राजेन्द्रसूरि समझ गये थे, अतः उन्होंने जैनागम की सारी शब्द छैनियाँ एकत्र कीं, उनके सही अर्थ खोजे और शब्द निकम्मे नहीं हो जाएँ, ढपोरशंख नहीं बने रहें, अतः उन्होंने शब्दों को जीना शुरु किया और धीरे-धीरे वे कई बढ़िया शब्द अपने जीवन में उतार ले गये।

यह सब उन्होंने ऐसे युग में किया जब शब्द उतने निकम्मे नहीं हुए थे, उतने फाजिल नहीं बने थे, उतने ढपोरशंख साबित नहीं हो सके थे, जितने आज हो गये हैं, आज हम मृत शब्दों को लादे-लादे चल रहे हैं और साथ ही जिन शब्दों के शव हमारे कंधों पर पड़े हैं उन्हीं का जय-जयकार उच्चार रहे हैं। दूसरी ओर हमें पता ही नहीं चला कि कुछ शब्द कब बेड़ियाँ बन कर हम से चिपक गये हैं और जो मनुष्य के जीवन को निरन्तर कुचल रहे हैं। आज हमें किसी राजेन्द्रसूरि की फिर जरूरत है। हमें अब अपने तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बनाने वाले शिल्पी नहीं चाहिये। बहुत मारबल बिगाड़े हैं हमने। मूर्तियों से मंदिर पाट दिये हैं। हमें अब जीवन शिल्पी चाहिए। यह काम खुद ही हमें अपने लिए करना होगा—शब्द जीने होंगे। जो बोल रहे हैं, भेज रहे हैं, पूज रहे हैं, जिन शब्दों की जय-जयकार कर रहे हैं वे सब अपने ही जीवन में प्रतिपल-प्रतिक्षण उतारने होंगे। ऐसा नहीं करेंगे तो वे सारे मारक शब्द जो हम बोल तो नहीं रहे हैं, पर जिन्हें हम जी रहे हैं, मनुष्य को खा जाएँगे। 'शब्द-योगी' श्रीमद् सूरि का जीवन हमें यही संदेश दे रहा है। □

यतिक्रान्ति का घोषणापत्र : कलमनामा

आखिर यतिपूज्य श्री धरणेन्द्रसूरि ने 'कलमनामे' पर वि. सं. १९२५ (ई. सन् १८६८) की माघ शुक्ला ७ को 'दस्तखत' कर दिये। यतिपूज्य ने श्री राजेन्द्रसूरिजी की पदवी को भी मान्य कर लिया। उस कलमनामे पर नौ यतियों ने हस्ताक्षर किये।

☐ मुनि देवेन्द्रविजय

भगवान महावीर के २३८९ वें जन्मकल्याणक की रात स्वाध्याय-अमृत के आनन्द-समुद्र से प्राप्त सारतत्व के फलस्वरूप मुनिप्रवर श्रीरत्नविजयजी ने पाँच वर्षों की अवधि-मर्यादा रखकर धरणविहार चैत्य राणकपुर में क्रियोद्धार का अभि-ग्रह किया।

अभिग्रह-धारण के समय कोई ऐसी शुभ घड़ी थी कि जिसका लाभ जैन श्वेताम्बर संघ को मिला। इस का अकिंचन प्रसंग निमित्त बना। मुनिश्री रत्नविजय सावधान हुए। उन्होंने व्यवधानों को झटक दिया। बाधाओं के टीले उन्हें डरा नहीं सके। तप, त्याग, अनुप्रेक्षा और स्वाध्याय का पाथेय ले वे संयम के राजमार्ग पर निर्द्वन्द्व चल पड़े। सं. १९२४ की वैशाख शुक्ल ५ को श्रीमद्प्रमोदसूरिजी ने विधिपूर्वक उन्हें श्रीपूज्य पद प्रदान किया। नाम श्रीमद्राजेन्द्रसूरीश्वर दिया गया।

वाणी और विचारों में अडिग, व्यवहार में स्पष्ट और असन्दिग्ध, निर्भय, ओज, तेज और क्रान्ति का निनाद करती विचार-वीणा से भगवान महावीर के सिद्धान्तों के अमृत का वर्षण करते हुए उन्होंने गाँव-गाँव और नगर-नगर में जागृति का गगनभेदी शंखनाद किया। कष्ट, यातना, प्रपीड़न और उपसर्गों से जूझते हुए श्रीराजेन्द्रसूरीश्वर कठोर शूलों को सुकुमार फूल समझते रहे।

जागृति का प्रखर शंखनाद अलख जगा रहा था और श्रीपूज्य धरणेन्द्र-सूरिजी को सावधान कर रहा था, वे पछतावे की आँच में निखर रहे थे। वदलती हवाओं ने उन्हें पसोपेश में डाल दिया था। उनमें जव सत्ता का उन्माद उतरने लगा तव उन्हें लगा कि समाधान का सूत्र अव उनके हाथों से छूट गया है। उन्हें अपने पैरों-तले की ज़मीन खिसकती नज़र आयी। तड़प उठे वे। आतुर हो उठे किसी हल, किसी समाधान के लिए। मालवा की ओर से आये यात्रियों ने जव उधर का हाल वताया तव यति-पूज्य अकुला उठे। उन्होंने नामी-गरामी यतियों को आमन्त्रित किया। सलाह-मशविरों के दौर आरंभ हुए। निर्णय श्रीमद्राजेन्द्रसूरिजी के पक्ष

में दिखायी दिया। पं. मोतीविजयजी और पं. देवसागर आदि ने तो साफ-साफ सुना दिया कि यदि यतिवर्ग में व्याप्त स्वच्छन्दता और उद्दण्डता का दमन तत्काल नहीं किया गया तो हम भी नये श्रीपूज्य के हमकदम होंगे। आत्मसुख के लिए यह वाना है महाराज, न कि इन्द्रियों की चाकरी के लिए।

श्रीपूज्य अव विकट परिस्थिति की झंझा में भटक गये थे, मार्ग अवरुद्ध दीख रहा था। अपने उतावले स्वभाव पर खीझ उठे वे; पर अव क्या होना था? नदी का पानी दूर चला गया था। तीर और शब्द निकलने के वाद किसी के हाथ नहीं रहते। वार्ताओं के दौर चले वचने-वचाने के लिए तर्कों के फांफें निरर्थक दीख पड़े। तव नामी और अनुभवी यतियों पर सारा मसला छोड़ा गया। उन्होंने अनुभवी और विचारवान् पं. मोतीविजयजी एवं मुनि सिद्धिकुशलजी को श्रीपूज्य राजेन्द्रसूरिजी के पास भेजा। दोनों जावरा आये।

जावरा में तव तक कुछ हीनप्रकृति यतियों ने मंत्रों का हौवा खड़ा करके जनता में संत्रास और आतंक मचाने का निष्फल प्रयास किया था, किन्तु परिणाम में कुछ हाथ लगा न था। संघ में रोष व्याप्त था। ऐसे में उक्त दोनों यति जावरा गये। सारा वातावरण और प्रपंच जानकर दुःखी हो गये दोनों यति। वड़ी नम्रता और धीरता से उन्होंने अपने मिशन का लक्ष्य श्रीसंघ जावरा के सामने प्रस्तुत किया। अन्ततः दोनों यति जावरा के आगेवानों के साथ रतलाम पहुँचे। श्रीपूज्य राजेन्द्रसूरि वहाँ विराजते थे। वार्ता और परामर्श के दौर चले; पर श्रीपूज्य का उत्तर स्पष्ट और असंदिग्ध कि –'मुझे पद, यश या कीर्ति की भूख नहीं; मैं तो क्रियोद्धार का मनोरथ कर रहा हूँ। पर यतिपूज्य यतियों के आचार-विचार में से अयुक्त और हीन प्रवृत्तियों का निष्कासन करें तो मुझे मंजूर है अन्यथा क्या फल और परिणाम आने वाले हैं, वे आप सव देख ही रहे हैं।' यतियों ने जव सव रास्ते वंद देखे तव सुधार का फार्मूला मानने में ही हित दीखा उन्हें! अतः श्रीपूज्य से सुधार-पत्र लेकर वे यतिपूज्य श्रीधरणेन्द्र सूरि के पास गये। सुधारों का फार्मूला–'कलमनामा' देख कर कुछ वौखलाहट मची पर जव सारी स्थिति का स्पष्ट विश्लेषण हुआ तो अन्य रास्ते सव निरर्थक ही दीखे। जव दोनों यतियों ने समझाया तव सव माने। आखिर यतिपूज्य श्रीधरणेन्द्रसूरि ने 'कलमनामे' पर वि. सं. १९२५ की माघ शुक्ला ७ को हस्ताक्षर कर दिये। यतिपूज्य ने श्री राजेन्द्रसूरिजी की पदवी को भी मान्य कर लिया। उस कलमनामे पर नौ यतियों ने हस्ताक्षर किये।

वह कलमनामा संघ में "नवकलमों" के नाम से विख्यात है। जावरा, रतलाम, आहोर आदि के ज्ञान भण्डारों में इस कलमनामे की प्रतियाँ सुरक्षित है।

दोनों ओर के आग्रहों से ऊपर उठकर जव हम कलमनामे का अध्ययन करते हैं तव निष्कर्ष यही आता है कि उस समय जैन श्वेताम्वर संघ में यतियों

का उत्पात सीमातीत हो गया था। ओघा और मुँहपत्ती की आड़ में वासना, कामना तथा लालसा का पोषण हो रहा था। त्याग के मार्ग चला मुनि आचार-शैथिल्य के दुश्चक्र में फँस गया था। कलमनामे का सुधार उन्हें नियंत्रण में रखने के लिए अस्तित्व में आया। वास्तव में यह सत्य है कि पू. पा. श्रीमद् राजेन्द्रसूरि उस समय के प्रभविष्णु, आत्मनिष्ठ और दृढ़ संकल्पी व्यक्ति थे। प्रश्न के सब पहलुओं का गहरा अध्ययन और उसके हल का सटीक, सतर्क और सप्रमाण निदान आपका अनुभव था। आप यति-मण्डल में अपने तप, त्याग, ज्ञान, अनुभव और कार्य-कौशल के लिए प्रख्यात थे। यही कारण था कि यह 'कलमनामा' यतियों ने स्वीकार किया।

यह कलमनामा उस समय की मालवी-मारवाड़ी-मिश्र भाषा में एक दस्तावेज के रूप में लिखा गया है। उस जमाने की प्रचलित परिपाटी के अनुसार हस्ताक्षर के स्थान पर 'सही' शब्द अंकित होते थे। जिन्हें पूरे हस्ताक्षर माना जाता था। कलमनामे के प्रारम्भ में ऊपर मध्य में 'सही' यह अंकित है जो पूज्य धरणेन्द्र-सूरि के हाथों का है। बाद में लेख प्रारंभ होता है। लेख के अन्त में यति वर्ग में अपना प्रभाव रखने वाले नौ यतियों के हस्ताक्षर हैं। जिनके नामों के आगे "पं." लिखा है, जिसका अर्थ 'पंन्यास' और 'पंडित' दोनों संभव है। कलमनामा मलतः इस प्रकार है:

सही

स्वस्तिश्री पार्श्वजिनं प्रणम्य श्री श्री कालंद्री नयरतो भ. श्री श्री विजय धरणेन्द्र सूरि यस्सपरिकरा श्री जावरा नयरे सुश्रावक पुण्यप्रभावक श्री देवगुरुभक्ति-कारक सर्वविसर सावधान वहुवुद्धि निधान संघनायक संघमुख्य समस्त संघ श्री पंच सरावकां जोग्य धर्मलाभ पूर्वकं लिखंति यथाकार्य, चारित्रधर्मकार्य सर्वनिरविघ्न-पणे प्रवर्ते छे। श्री देवप्रशादे तथा संघना विशेष धर्मोद्यम करवा पूर्वक सुख मोकलवा सर्वविधि व्यवहार मर्यादा जास प्रवीन गुणवंत भगवंत सुधर्मिदीपता विवेकी गृहस्थ संघ हमारे घणी वात छो जे दिवस्ये संघने देखस्युं वंदावस्युं ते दिवसे घणो आनंद पामस्युं तथा तुमारी भक्ति ग्रहस्थें करी श्री तपगच्छनी विशेष उन्नति दीसे छे ते जाण छे। उपरंच तुमारे उठे श्रीपूज्यजी विजयराजेन्द्रसूरिजी नाम करके तुमारे उठे चौमासो रह्या छे सो अणां के ने हमारे नव कलमा वावत खिंची थी सो आपस में मिसल वेठी नहीं, जणी ऊपर रुसाइने नवी गदी खड़ी करने गया छे। इणांको नाम रतनविजयजी हे, हमारा हाथ नीचे दफ्तर को काम करता था। जणी की समजास वदले हमों वजीर मोतीविजे मुनिसिद्धिकुशलने आप पासे भेज्या सो आप नव कलमा को वंदोवस्त वजीरमोतीविजय पास हमारे दसकतासुं मंगावणो ठेरायो ने दो तरफी सफाई समजास कराई देणी सो वात आछो कियो। अबे श्रीविजयराजेन्द्र-सूरिजी के साथ साधु छे जणाने वजीर मोतीविजेजी के साथ अठे भेजाई देसी सो

आदेश सदामल भेजता आया जणी मुजव भेज देसां। अणां की लारां का सधुवासुं हमें कोयतरे दुजात भाव राखां नहीं और नव कलमा की विगत नीचे मंडी हे जिस माफक हमांने कवुल है। जणी की विगत–

(१) **पेली**—प्रतिक्रमण दोय टंक को करनो श्रावक साधु समेत करना करावणा, पच्क्खाण वखाण सदा थापनाजी की पडिलेहण करणा, उपकरण १४ सिवाय गेणा तथा मादलिया जंतर पास राखणा नहीं, श्रीदेहरेजी नित जाणा सो सवारी में वेठणा नहीं पेदल जाणां।

(२) **दूजी**—घोड़ा तथा गाड़ी ऊपर नहीं वेठणा, सवारी खरच नहीं राखणा।

(३) **तीजी**—आयुध नहीं राखणा तथा गृहस्थी के पास का आयुध गेणा रूपाला देखे तो उनके हाथ नहीं लगाणा, तमंचा शस्त्र नाम नहीं रखणा।

(४) **चोथी**—लुगाइयाँसुं एकांत वेठ वात नहीं करणा, वेश्या तथा नपुंसक वांके पास नहीं वेठणा। उणांने नहीं राखणां।

(५) **पांचमी**—जो साधु तमाखु तथा गांजा भांग पीवे, रात्रि भोजन करे, कांदा लसण खावे, लंपटी अपचक्खाणी होवे एसा गुण का साधु होय तो पास राखणा नहीं।

(६) **छट्ठी**—सचित्त लीलोती काचा पाणी वनस्पतिकुं विणासणा नहीं, काटणा नहीं, दांतण करना नहीं, तेल फुलेल मालस करावणा नहीं, तालाव, कुवा, वावड़ी में हाथ धोवणा नहीं।

(७) **सातमी**—सिपाई खरच में आदमी नोकर जादा नहीं राखणा जीवहिंसा करे एसा नोकर राखणा नहीं।

(८) **आठमी**—गृहस्थी से तकरार करके खमासण प्रमुख के वदले दवायने रुपिया लेणा नहीं।

(९) **नवमी**—ओर किसी को सद्दहणा देणा श्रावक श्रावकणियाने उपदेश शुद्ध परुपणा देणी। एसी परूपणा देणी नहीं जणी में उलटो उणां को समकित विगड़े एसो परूपणो नहीं। ओर रात को वाहर जावे नहीं ओर चोपड़ सतरंज गंजफो वगेरा खेल रामत कहीं खेले नहीं, केश लांवा वधावे नहीं, पगरखी पेरे नहीं, ओर शास्त्र की गाथा ५०० रोज सज्झाय करणा।

इणी मुजव हमें पोते पण वरावर पालागां ने ओर मुंड अगाड़ी का साधुवांने पण मुजव चलावांगा ने ओर श्रीपूज आचार्य नाम धरावेगा सो वरावर पालेहीगा, कदाच कोई ऊपर लख्या मुजव नहीं पाले ने किरिया नहीं सांचवे जणीने श्रीसंघ समजायने कह्यो चाहिजे, श्रीसंघरा केणसुं नहीं समझे ने मरजादा मुजव नहीं चाले जणां श्रीपूज्य-ने आचार्य जाणणो नहीं ने मानणो नहीं। श्रीसंघ की तरफसुं अतरो अंकुश वण्यो

रुखावटी तो ऊपर लख्या मुजब श्रीपूज तथा साधुलोग अपनी अपनी मुरजादो मुजब बरा-बर चालसी कोईतिरह धर्म की मुरजादा में खामी पड़सी नहीं। श्रीसंघने ऊपर लिख्या मुजब बंदोबस्त कराने भेजा है सो देख लेरावसी संवत १९२४ मिति माहसुदि [illegible]

पं. मोतीविजेना दसकत, पं. देवसागरना दसकत, पं. केसरसागर ना दसकत, पं. नवलविजेना दसकत, पं. वीरविजेना दसकत, पं. खिमाविजेना दसकत, पं. लब्धि-विजेना दसकत, पं. ज्ञानविजेना दसकत, पं. सुखविजेना दसकत।

इस का विवाद एक सामान्य विवाद था, परन्तु इस विवाद ने [illegible] की नींद उड़ा दी। विचार-शून्यता और आचार-हीनता ने त्यागी संघ और उसके नेता पर ऐसा जादू डाला था कि वे पतन के रसातल में जा पहुँचे थे। धर्मा-धिकारी की स्वच्छन्दता पर यदि नियन्त्रण नहीं लगाया गया तो पतन ही पतन है। इस की दुर्गन्ध तो कुछ घण्टों बाद समाप्त हो गयी, किन्तु वह [illegible] के अन्तस्तल में जो वेदना, संताप और गहन पीड़ा छोड़ गयी थी उसी का समाधान उक्त "कलमनामे" की स्वीकृति है।

श्रीविजयराजेन्द्रसूरि ने उस समय यह जो नवकलमों का कलमनामा यतियों और उनके श्रीपूज्य से मंजूर करवाया, उसमें मात्र उनश्री का निर्दोष विचार प्रभाव और शासन-भक्ति ही दृष्टिगोचर होती है। कलमनामे में उन्होंने अपने लिये किसी प्रकार का सम्मान और प्रतिष्ठा का एक शब्द भी प्रयुक्त नहीं करवाया। जैन मुनि के आचार और प्रभाव तथा विचार का पुनरुद्धार ही उनके हृदय में रात-दिन निरन्तर रममाण था। कलमनामे की गहराई से अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट होती है। श्रीधरणेन्द्रसूरि और यतियों से उन्हें किसी प्रकार का विरोध नहीं था।

कलमनामे का एक-एक शब्द और एक-एक नियम वस्तुतः उस युग में यति-समुदाय किस तरह आचार-विचार-मुक्त हो गया था, उसका एक जीवन्त शब्द-चित्र प्रस्तुत करता है। इन नियमों का गहरा अध्ययन करने से यह तथ्य भी उभर कर सामने आ जाता है कि इस कलमनामे को मंजूर करवा कर अमली जामा पहिनाने में अनेक बाधाएँ आयी होंगी तथा गंभीर संघर्ष हुआ होगा। यह ध्वनि आठवीं कलम से निकलती है। इस कलम में कहे गये शब्द अन्य कलमों जैसे स्पष्ट होते हुए भी अन्तस् में गंभीर प्रतिबद्धता लिये हुए हैं।

सुधार करने के लिए उद्यत उद्धारकों को कई बार बड़ी विचित्र परिस्थि-तियों और गंभीरतम क्षणों में रहना पड़ता है। उन्हें विरोध, प्रहार, भ्रान्तियों और संकष्टों का सामना करना पड़ता है। इस कलम में द्रव्य-संग्रह-मोह का निरसन किया गया है; परन्तु ऐसा लगता है कि समाधान और सुधारणा का कार्य मन्द हुआ जाता होगा; अतः मध्यस्थ समाधानकारों ने "तकरार" और "दबाय" इन दो शब्दों की बढ़ोतरी करके उपद्रवियों के कोलाहल को नाकाम किया। दीखने में मद्धम किन्तु क्रान्तिनिष्ठ इन नियमों का यतिराजों और यतियों द्वारा परिचालन उस

जमाने में सर्वथा असंभव था। यह इसलिए कि यतियों का शासन और प्रभाव ज़बर्दस्त था। राजसी वैभव की सुरक्षा के लिए शस्त्र-संग्रह भी हो गया था। संग्रह करने वाला स्वयं या अन्य से प्रयोग भी करवा सकता था। तीसरी और सातवीं कलमों को मिलाकर विचार करने से यह तथ्य भी स्पष्ट होता है। पाँचवीं कलम से नशीली वस्तुओं के प्रयोग का भी पता चलता है। यह भी यतियों के पतन का प्रमाण है। अत: आठवीं कलम की रचना में सावधानी और गर्भित रहस्य रखा गया है।

वास्तव में एक तानाशाही शासन के शासक को अपनी प्रतिभा और अपने तप-त्याग के बल पर चिन्तक ने अहिंसक मार्ग से परास्त कर दिया। इस कलम-नामे की फलश्रुति श्रीविजयराजेन्द्रसूरि के जीवन की मौलिकता विशिष्टता, और शासन-भक्ति का अचूक प्रमाण है। कलमनामा मंजूर कराने में उनकी लगन और पठित यतिओं में उनका प्रभाव भी सक्रिय था। वे वास्तव में जन्मसिद्ध प्रभावक थे। कलमनामे की मंजूरी सुनकर वे प्रसन्न थे।

यतियों का राजसी वैभव त्याग करके जाते हुए क्रिया का पुनरुद्धार करने के लिए तमाम सत्ता तथा विलास का त्याग और दूसरे छोटे-बड़े राजपुत्रों जैसे पूज्यों यतियों को त्याग निष्ठा मुनिजीवन का मार्ग दिखलाना, ऐसा एक भव्य मनोज्ञ चित्र यह कलमनामा हमारी आँखों के सामने उपस्थित करता है।

भरे-पूरे घरके, स्नेहिल भाई-बहिन आदि का त्याग करने वाले ये पुनरुद्धारक जब जावरा में छडी,चामर-पालखी-छत्र आदि के शाही ठाटबाट और यतियों के विलासी जीवन आदि का स्वयमेव त्याग करते हैं, तब इनकी त्याग भावना और त्यागप्रियता कितनी अविचल और सशक्त होगी इसे शब्दों में समझाने की आवश्यकता नहीं है।

इत्र के विवाद से उत्पन्न संघर्ष का सुखद अन्त दोनों ओर के हितचिंतकों के लिए संतोषप्रद था। जिस दिन यह कलमनामा श्रीपूज्यराजेन्द्रसूरि को दिया गया, उस दिन जावरा में अनेक सुप्रसिद्ध यति आये थे। कहते हैं इनकी संख्या २५० के आसपास थी; जिन में पं. श्रीमोतीविजयजी, मुनिसिद्धिकुशलजी, श्री अमररुचिजी, लक्ष्मीविजयजी, महेन्द्रविजयजी, रूपविजयजी, फतेसागरजी, ज्ञानसागरजी, रूपसागरजी आदि मुख्य थे।

समाधान के सहर्ष स्वीकार होने पर पंन्यास मोतीविजयजी, महेन्द्रविजयजी, और सिद्धिकुशलजी ने श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरिजी की ओर से श्री राजेन्द्रसूरि की श्रीपूज्य पदवी की मान्यता की बात सभा में प्रकट की। जावरा के तथा आसपास के ग्राम-नगरों के उपस्थित अग्रेसर प्रसन्न हो गये। उसी समय भींडर (मेवाड़) के यति श्री अमर-रुचि के दीक्षा-शिष्य श्रीप्रमोदरुचि नामक यति, जो २६ वर्षों के तरुण, प्रतिभाशाली

और संगीत तथा आशुकवित्व-शक्ति से सम्पन्न थे, द्वारा तत्काल रचित अवसरोचित्त काव्य पढ़ा—

मेघ घटा सुछटा असमान ज्युं,
संजम साज मुनिमग धारी।
भूरि जना रिछपाल कृपाल ज्युं,
अमृत वेण सुताप विडारी।
काल-कराल कुलिंग विखण्डन,
मण्डन शासन जैन सुधारी।
पंचम काल चले शुभ चालसुं,
सूरिविजय राजेन्द्र जितारी ॥१॥
उदयो दिनकर तेज प्रताप थी, सोहम नभ निरधार।
सूरि विजय राजेन्द्र दिपाव्यो, जिन शासन जयकार ॥२॥

यतिगण और उपासकगण ने समयोचित वक्ता प्रमोदरुचिजी का साथ दिया। सभा में उल्लास और आनन्द तथा जयजयकार छा गया।

पंन्यास मोतीविजयजी ने अब श्रीपूज्य राजन्द्रसूरिजी से यतिमण्डल में पुनः पधारने की सानुनय प्रार्थना की जब उपस्थित यतियों ने भी इसीलिए अनुनय की तब प्रसन्नमना श्रीपूज्य ने अपने अभिग्रह की बात कहकर उत्तर दिया वि. सं. १९२५ के चैत्र शुक्ला १३ को मेरे अभिग्रह की पाँच वर्षों की अवधि समापन हो रही है अतः मैं अब कृतकार्य हुआ। मुझे तो आत्मसुख के लिए क्रियोद्धार करना है। यह बात सुन यतिगण में आशा-निराशा प्रसन्नता की मिश्र प्रतिक्रियाएँ हुई। पं. मोतीविजय दुःखित थे; पर वे कर ही क्या सकते थे? अभिग्रह की बात को प्रथम दिन से ही व जानते थे, अतः निराश भी थे तो कलमनामा मंजूर करवाने की सफलता के लिए यशःभागी भी।

आये हुए यतियों ने जावरा में कुछ दिन मुकाम किया और क्रियोद्धार के दिन पुनः आने का विचार करके रवाना हुए।

कलमनामे का स्वीकार होने पर वि. सं. १९२३ के भाद्रपद शुक्ला २ के दिन इत्र के विवाद के अवसर पर श्री राजेन्द्रसूरि (तब श्रीरत्नविजयजी) जी ने कहा था कि—

"श्रीमान्! देखते जाइये, हवाएँ किधर बहती है। मेरा तो विचार-निर्णय शुद्ध साध्वाचार प्रचार के लिए क्रियोद्धार का है, पर इस उन्माद का उपचार भी अत्यावश्यक है। रोग यदि बढ़ गया हो तो अंग-भंग का मौका भी आता है। अतः पहले यह शल्य उपचार माँगता है, सो करना ही पड़ेगा। श्रीमान्! औषध के कड़ुवे घूंट पीने को तैयार रहें। मैं औषध अतिशीघ्र भेजूंगा।"

उन्होंने ये वचन ५१५ दिन अर्थात् १७ महीने और पाँच दिन में सार्थक और सफल कर दिये। जो तमन्ना थी, वह समापन हुई। जावरा का चातुर्मास और जावरा पधारना तथा जावरा के श्रीसंघ के अग्रसरों का जूने श्रीपूज्य को दो टूक उत्तर देना तथा संघर्ष में छली यतियों के सन्ताप सहना आदि सब तब सार्थक हो गये जब यतिक्रान्ति का यह घोषणापत्र (कलमनामा) अस्तित्व में आ गया। वास्तव में गत शताब्दी की यह घटना अविस्मरणीय है। मात्र एक व्यक्ति अपने बल-पराक्रम से युगों पुराने और गहरे जमे कचरे को एक झपाटे में साफ कर दे आश्चर्यजनक संवाद है यह। □

जय राजेन्द्र तुम्हारी

जय ! राजेन्द्र तुम्हारी, यावच्चन्द्र दिवाकर जग में !

तुम संस्कृति के संवाहक;
तप-धर्मवृत्ति के निर्वाहक !
तुम जिनवाणी के परिचायक !
विधि मार्ग प्रबलता-संचायक !

नत मस्तक हैं हम, तुम अविकल हो युग में
जय ! राजेन्द्र तुम्हारी, यावच्चन्द्रदिवाकर जग में ।।

जिन-शासन-रवि तेजोमय रश्मि ।
प्रभापूर्ण शुचि देह निभा ।
शुचि बोधक अविरल तत्त्वप्रति ।
संग्राहक सद्गुण विमल विभा ।

सत्तत्त्व प्रकाशक महामना, अविचल निज मग में ।
जय ! राजेन्द्र तुम्हारी यावच्चन्द्रदिवाकर जग में ।।

तुम त्याग-मार्ग के अनुगामी ।
हो श्रेय प्रेय युत निष्कामी ।
अभिवन्दनीय तुम जीवन-गाथा ।
युग-युग-प्रेरक अभिरामी ।

निष्प्रकंप भावना ज्यों, अडिग रहा नग में ।
जय ! राजेन्द्र तुम्हारी, यावच्चन्द्रदिवाकर जग में ।।

ज्ञाता द्रव्य-गुण-पर्याय-भेद के ।
तुम आत्मतत्त्व-विज्ञान-निधि ।
तपोमूर्ति अप्रमत्त अहोनिशि ।
योगीश्वर स्व-गुण-गण-ऋद्धि ।

प्रमोद-भाव प्रभासन शान्तभाव रहा प्रतिक्षण में ।
जय राजेन्द्र ! तुम्हारी, यावच्चन्द्रदिवाकर जग में ।।

अखिल विश्व के वंद्य चरण तुम
उत्कट अगम-निगमचारी ।
उन्नायक शुचि जिन-शासन के ।
पालक विमल पंचाचारी ।

सन्मार्ग विधायक अडिग योद्धा, निडर वृत्ति उर में ।
जय ! राजेन्द्र तुम्हारी यावच्चन्द्रदिवाकर जग में ।।

☐ मुनि जयन्तविजय 'मधुकर'

श्रीमद्‌राजेन्द्रसूरीश्वर की चुनी हुई सूक्तियाँ

१. सहनशीलता के विना संयम, संयम के विना त्याग और त्याग के विना आत्म-विश्वास असम्भव है।

२. संसार में सुमेरु से ऊँचा कोई पर्वत नहीं और आकाश से विशाल कोई पदार्थ नहीं; इसी प्रकार अहिंसा से बड़ा कोई धर्म नहीं है।

३. अहिंसा प्राणिमात्र का माता की भाँति लालन-पोषण करती है, शरीररूपी भूमि में सुधा-सरिता बहाती है, दुःख-दावानल को बुझाने के निमित्त मेघ के समान है, और भव-भ्रमण-रूपी महारोग के नाश करने में रामवाण औषधि है।

४. सब कलाओं में श्रेष्ठ धर्म-कला है, सब कथाओं में श्रेष्ठ धर्म-कथा है, सब बलों में श्रेष्ठ धर्म-बल है और सब सुखों में मोक्ष-सुख सर्वोत्तम है।

५. समय अमूल्य है। सुकृतों द्वारा जो उसे सफल बनाता है, वह भाग्यशाली है; क्योंकि जो समय चला जाता है, वह लाख प्रयत्न करने पर भी वापस नहीं मिलता।

६. जो कार्य जिस समय में नियत किया है, उसे उसी समय पर कर लेना चाहिये; क्योंकि समय के कायम रहने का कोई भरोसा नहीं है।

७. एक ही तालाब का जल गौ और साँप दोनों पीते हैं, परन्तु गौ में वह दूध और साँप में विष हो जाता है; इसी प्रकार शास्त्रों का उपदेश भी सुपात्र में जाकर अमृत और अपात्र या कुपात्र में जाकर विषरूप परिणमन करता है।

८. अभिमान, दुर्भावना, विषयाशा, ईर्ष्या, लोभ आदि दुर्गुणों को नाश करने के लिए ही शास्त्राभ्यास करके पाण्डित्य प्राप्त किया जाता है। यदि पण्डित होकर भी हृदय-भवन में ये दुर्गुण वने रहे तो पण्डित और मूर्ख में कोई भेद नहीं है, दोनों को समान ही जानना चाहिये। पण्डित, विद्वान् या विशेषज्ञ वनना है तो हृदय से अभिमानादि दुर्गुणों को हटा देना ही सर्वश्रेष्ठ है।

९. जो व्यक्ति क्रोधी होता है अथवा जिसका क्रोध कभी शान्त नहीं होता, जो सज्जन और मित्रों का तिरस्कार करता है, जो विद्वान् होकर भी अभिमान रखता है, जो दूसरों के मर्म प्रकट करता है और अपने कुटुम्ब अथवा गुरु के साथ भी द्रोह करता है, किसी को कर्कश वचन वोल कर सन्ताप पहुँचाता है और जो सबका अप्रिय है, वह पुरुष अविनीत, दुर्गति और अनादर का पात्र है। ऐसे व्यक्ति को आत्मोद्धार का मार्ग नहीं मिलता है।

१०. विनय मानवता में चार चाँद लगाने वाला गुण है। मनुष्य चाहे जितना विद्वान् हो, वैज्ञानिक और नीतिज्ञ हो; किन्तु जब तक उसमें विनय नहीं है तब तक वह सबका प्रिय और सम्मान्य नहीं हो सकता।

११. जिस प्रकार मिट्टी से बनी कोठी को ज्यों-ज्यों धोया जाता है, उसमें से गारा के सिवाय सारभूत वस्तु कुछ मिलती नहीं, उसी प्रकार जिस मानव में जन्मतः कुसंस्कार घर कर बैठे हैं, उसको चाहे कितनी ही अकाट्य युक्तियों द्वारा समझाया जाए, वह सुसंस्कारी कभी नहीं होता।

१२. शरीर जब तक सशक्त है और कोई बाधा उपस्थित नहीं है, तभी तक आत्म-कल्याण की साधना कर लेनी चाहिये; अशक्ति के पंजे में फँस जाने के बाद फिर कुछ नहीं बन पड़ेगा, फिर तो यहाँ से कूच करने का डंका बजने लगेगा और अन्त में असहाय होकर जाना पड़ेगा।

१३. आत्मकल्याणकारी सच्ची विद्वत्ता या विद्या वही कही जाती है, जिसमें विश्व-प्रेम हो और विषय-पिपासा का अभाव हो तथा यथासम्भव धर्म का परिपालन हो और जीव को आत्मवत् समझने की बुद्धि हो।

१४. जो विद्वत्ता ईर्ष्या, कलह, उद्वेग उत्पन्न करने वाली है, वह विद्वत्ता नहीं, महान् अज्ञानता है; इसलिए जिस विद्वत्ता से आत्मकल्याण हो, उस विद्वत्ता को प्राप्त करने में सदा अप्रमत्त रहना चाहिये।

१५. जिस व्यक्ति ने मनुष्य-जीवन पाकर जितना अधिक आत्मविश्वास सम्पादित कर लिया है, वह उतना अधिक शान्तिपूर्वक सन्मार्ग पर आरूढ़ हो सकता है।

१६. जिस सत्ता से लोगों का उपकार किया जाए, निःस्वार्थ पर अविचल रहकर लाँच नहीं ली जाए और नीति-पथ को कभी न छोड़ा जाए, वही सत्ता का सम्यक् और वास्तविक उपयोग है, नहीं तो सत्ता को केवल गर्दभ-भार या दुर्गति-पात्र समझना चाहिये।

१७. दूसरे प्राणियों को सुखी करना मनुष्य का महान् आनन्द है और उन्हें व्यथित करना अथवा उन दुःख-पीड़ितों की उपेक्षा करना महादुःख है।

क्षमा अमृत, क्रोध विष

१८. क्षमा अमृत है, क्रोध विष है; क्षमा मानवता का अतीव विकास करती है और क्रोध उसका सर्वथा नाश कर देता है। क्रोधावेशी में दुराचारिता, दुष्टता, अनुदारता, परपीड़कता इत्यादि दुर्गुण निवास करते हैं और वह सारी ज़िन्दगी चिन्ता, शोक एवं सन्ताप में घिर कर व्यतीत करता है, क्षण-भर भी शान्ति से साँस लेने का समय उसे नहीं मिलता; इसलिए क्रोध को छोड़कर क्षमा को अपना लेना चाहिये।

१९. विविध सांसारिक खेलों को चुपचाप देखते रहो, परन्तु किसी के साथ राग-द्वेष मत करो। समभाव में निमग्न रह कर अपनी निजता में लीन रहो, यही मार्ग तुम्हें मोक्षाधिकारी बनायेगा।

२०. पुण्य और पाप दोनों क्रमशः सोने और लोहे की बेड़ियाँ हैं। मुमुक्षुओं के लिए दोनों ही बाधक हैं। ज्ञानी पुरुष अपने अनुभव द्वारा दोनों को निःशेष करने में सदैव प्रयत्नवान रहता है।

२१. कल्याणकारी वाणी बोलना, चंचल इन्द्रियों का दमन करना, संयम-भाव में लीन रहना, आपत्ति आ पड़ने पर भी अविकल रहना, अपने कर्त्तव्य का पालन करना, और सर्वत्र समभाव बरतना---इन गुणों का धारक ही साधु, श्रमण या मुनि कहलाता है।

२२. धन चला जाए तो कुछ नहीं जाता, स्वास्थ्य चला जाए तो कुछ चला गया समझो, लेकिन जिसकी आचार-उज्जल चली जाए, चरित्र ही नष्ट हो जाए तो उसका सब कुछ नष्ट हो गया वही समझना चाहिये; अतः पुरुष और स्त्री का सच्चरित्र होना अत्यन्त आवश्यक है।

२३. जो व्यक्ति व्याख्यान देने में दक्ष हो, प्रतिभा-सम्पन्न हो, कुशाग्र बुद्धिवाला हो; किन्तु मान-प्रतिष्ठा का लोलुपी हो, दूसरों को नीचा दिखाने का प्रयत्न करता हो तो न तो वह ज्ञानी है न प्रतिभावान और न विद्वान्।

२४. आगे बढ़ना पुरुषार्थ पर अवलम्बित है और पुरुषार्थ वही व्यक्ति कर सकता है जो आत्मबल पर खड़े रहना जानता है। दूसरों के भरोसे कार्य करने वाला पुरुष उन्नति-पथ पर चढ़ने का अधिकारी नहीं है, उसे अन्ततोगत्वा गिरना ही पड़ता है।

२५. जन-मन-रंजनकारी प्रज्ञा को आत्म-प्रगतिरोधक ही समझना चाहिये; जिस प्रज्ञा में उत्सूत्र, मायाचारी और असत्य भाषण भरा रहता है, वह दुर्गतिप्रदायक है। अतः आत्मशंसा का यत्न यथार्थ का प्रबोधक नहीं, अधमता का द्योतक है।

२६. मानव में मनुजता का प्रकाश सत्य, शौर्य, उदारता, संयम आदि गुणों से ही होता है। जिसमें गुण नहीं उसमें मानवता नहीं, अन्धकार मनुजता का संहारक है, वह प्राणिमात्र को संसार में धकेलता है।

२७. जिनेश्वर-वाणी अनेकान्तमय है। वह संयम-मार्ग की समर्थिका है। वह सब तरह से तीनों काल में सत्य है और अज्ञान-अन्धकार को नष्ट करने वाली है। जिनवाणी में एकान्त दुराग्रह और असत् तर्क-वितर्कों के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं है।

२८. जिस प्रकार सघन मेघ-घटाओं से सूर्य-तेज दब नहीं सकता, उसी प्रकार मिथ्या प्रलापों से सत्य आच्छादित नहीं हो सकता।

२९. सर्वादरणीय सत्साहित्य में संदिग्ध रहना अपनी संस्कृति का घात करने जैसा है।

३०. जिस देव में भय, मात्सर्य, मारण बुद्धि, कषाय और विषय-वासना के चिह्न विद्यमान हैं, उसकी उपासना में और उसके उपासक में भी वैसी वैसी ही बुद्धि उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

३१. यदि सुखपूर्वक जीवन-यापन की अभिलाषा हो तो सबके साथ नदी-नौका के समान हिल-मिल कर चलना सीखो।

३२. विद्या और धन दोनों ही सतत परिश्रम के सुफल हैं। मन्त्र-जाप, देवाराधना और ढोंगी-पाखण्डियों के गले पड़ने से विद्या और धन कभी नहीं मिल सकते। विद्या चाहते हो तो सद्गुरुओं की सेवा-संगति करो, पुस्तकों या शास्त्रों का मनन करने में सतत् प्रयत्नशील रहो; धन चाहते हो तो धर्म और नीति का यथाशक्ति परिपालन करते हुए व्यापार-धन्धे में संलग्न रहो।

३३. धन की अपेक्षा स्वास्थ्य, स्वास्थ्य की अपेक्षा जीवन, और जीवन की अपेक्षा आत्मा प्रधान है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए प्रकृति के अनुकूल कम खाना, झगड़े के वक्त गम खाना, और प्रतिक्रमणादि धर्मानुष्ठानों में उपवेशन एवं अभ्युत्थान करना चाहिये। जीवन और आत्म-विकास के लिए चुगलबाजी, निन्दाखोरी, चालबाजी, कलहबाजी आदि आदतों को हृदय-भवन से निकाल कर दूर फेंक देना चाहिये और उनको शुद्ध आचार-विचार, शुभाचरण तथा शुद्ध वातावरण में योजित करना चाहिये।

३४. उत्तम परिवार में जन्म, धर्मिष्ठ वातावरण, निर्वाह-योग्य धन, सुपात्र पत्नी, लोक में प्रतिष्ठा, सद्गुरुओं की संगति और शास्त्र-श्रवण में रुझान पूर्व पुण्योदय के बिना नहीं मिलते। जो पुरुष या स्त्री इन्हें पाकर भी अपने जीवन को सार्थक नहीं करता, उसके समान अभागा इस संसार में दूसरा नहीं है।

३५. जिस व्यक्ति में शौर्य, धैर्य, सहिष्णुता, सरलता, गुणानुराग, कषाय और विषय-दमन, न्याय और परमार्थ में रुचि इत्यादि गुण निवास करते हैं, संसार में वही पुरुष आदर्श और सन्माननीय माना जाता है। ऐसे ही व्यक्ति की सर्वत्र सराहना होती है और उसकी बात को आदरपूर्वक सुना जाता है।

३६. लालसा उस मृग-तृष्णा के समान है, जिसका कोई पार नहीं पा सकता। यह अन्तहीन है, अतः सन्तोष धारण करने से ही सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है।

३७. सन्तोषी प्रतिपल शास्त्र-श्रवण करता, नेत्रों से नीतिवाक्यामृतों को सुनता और सद्भावों की सुगन्धि से भरपूर रहता है; उसे काम-कलुष जरा भी छू नहीं पाते।

३८. आग्रही व्यक्ति कल्पित तथ्यों की पुष्टि के लिए इधर-उधर की युक्तियाँ खोजते हैं और उन्हें अपने मत की पुष्टि में संयोजित करते हैं, सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति ज्ञान-सम्पन्न और युक्ति-संगत वस्तु-स्वरूप को मान लेने में तनिक भी हठाग्रह नहीं करते हैं।

३९. जिन अपराधों के लिए एक बार क्षमा मांगी जा चुकी है, उन्हीं के लिए पुनः क्षमा मांगना प्रमाद है और उन्हें फिर न होने देना सच्ची क्षमा है।

४०. क्षमा शुभ विचारों को जन्म देती है, शुभ विचार सुसंस्कार बनते हैं, और सुसंस्कारों के माध्यम से जीवन का उत्तरोत्तर विकास होता है, जिससे वे धर्मरूप बन जाते हैं।

४१. खाली लोकदिखाऊ औपचारिक क्षमा मांगना और जहाँ के तहाँ बने रहना क्षमा-याचना नहीं, धूर्तता है।

४२. मन को विरोध या वैमनस्य की दुर्भावना से सर्वथा हटा लेना और फिर कभी वैसी भावना न आने देना: क्षमा का ऐसा निर्मल स्वरूप ही आत्मा का विकास करने वाला है।

४३. जैसे तुम्बे का पात्र मुनिराज के हाथ में सुपात्र बन जाता है, संगीतज्ञ के द्वारा विशुद्ध बांस से जुड़ कर मधुर संगीत का साधन बन जाता है, डोरियों से बन्धकर समुद्र तथा नदी को पार करने का निमित्त बन जाता है और मदिरा-मांसार्थी के हाथ पड़कर रुधिर-पान का भाजन बन जाता है; वैसे ही कोई भी मनुष्य सज्जन या दुर्जन की संगति में पड़कर गुण या अवगुण का पात्र बन जाता है ।

४४. विष-मिश्रित भोजन देकर चकोर अपने नेत्र मूँद लेता है, हँस कोलाहल करने लगता है, मैना वमन करने लगती है, तोता आक्रोश में आ जाता है, बन्दर विष्टा करने लगता है, कोकिल मर जाता है, क्रौंच नाचने लगता है, नेवला और कौआ प्रसन्न होने लगते हैं; अतः जीवन को सुखी रखने के लिए सावधानी से संशोधन कर भोजन करना चाहिये।

४५. व्यभिचार कभी सुखदायी नहीं है, अन्ततः इससे अनेक व्याधियों और कष्टों से घिर जाना पड़ता है।

४६. रात्रि भोजन के चार भांगे हैं: दिन को बनाया, दिन में खाया। दिन को बनाया, रात में खाया; रात में बनाया, दिन में खाया; अन्धेरे में बनाया और अन्धेरे में खाया। इनमें से पहला रूप ही शुद्ध है।

४७. समय की गति और लोक-मानस की ढलान को भली-भाँति परख कर जो व्यक्ति अपना व्यवहार निश्चित करता है, वह कभी किसी तरह के पसोपेश में नहीं पड़ता; किन्तु जो हठाग्रह या अल्पमति के वश में होकर

संयम या लोकमत की अवहेलना करता है, वह किसी का भी प्रेम सम्पादित नहीं कर पाता।

४८. संसार में वैराग्य ही ऐसा है, जिसमें न किसी का भय है, न चिन्ता; अतः निर्भय वैराग्य-मार्ग का आचरण ही सर्वदा सुखप्रद है।

४९. जो असंयम को दूर कर देते हैं और फिर कभी उसके फन्दे में नहीं फँसते, वे संयम में आरूढ़ रह कर अक्षय्य सुख को प्राप्त करते हैं; इतना ही नहीं, उनके सहारे अन्यों को भी आत्मविकास का अवसर मिलता है।

५०. संयम कल्पवृक्ष है, तपस्या उसकी सुदृढ़ जड़ है, सन्तोप स्कन्ध है, इन्द्रिय-संयम शाखा-प्रशाखा हैं, अभय पर्ण हैं, शील पत्रोद्‌ग है। यह श्रद्धा के जल से सिंचकर सदैव नयी कोंपले धारण करता रहता है। ऐश्वर्य इसका पुष्प है और मोक्ष फल। जो इसकी भली-भाँति अप्रमत्त भाव से रक्षा करता है, उसके दुःखों का सदा के लिए अन्त हो जाता है।

५१. जैसे वट-वृक्ष का बीज छोटा होते हुए भी उससे बड़ा आकार पाने वाला अंकुर निकलता है, उसी तरह जिसका हृदय विशुद्ध है, उसका थोड़ा किया हुआ सत्कार्य भी भारी रूप ग्रहण कर लेता है।

५२. मनुष्य मानवता रख कर ही मनुष्य है। मानवता में सभी धर्म, सिद्धान्त, सुविचार, कर्त्तव्य, सुकार्य आ जाते हैं।

५३. मानवों को अपने विकास के लिए निर्दोप प्रवृत्तियों का आश्रय लेना चाहिये, तभी आकाँक्षित प्रगति हो आसान हो सकती है।

५४. संसार में धार्मिक और कार्मिक सभी क्रियाएँ सद्‌भाव से ही सफल होती हैं।

५५. साधु में साधुता तथा शान्ति, और श्रावक में श्रावकत्व और दृढ़ धर्म-परायणता होना आवश्यक है।

५६. जो श्रावक अपने धर्म पर विश्वास नहीं रखता, कर्त्तव्य का पालन नहीं करता और आशा से ढोंगियों की ताक में रहता है, उसे उन पशुओं के समान समझना चाहिये जो मनुष्यता से हीन हैं।

५७. शान्ति तथा द्रोह परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। जहाँ शान्ति होगी, वहाँ द्रोह नहीं होगा; और जहाँ द्रोह होगा वहाँ शान्ति निवास नहीं करेगी। द्रोह का मुख्य कारण है, अपनी भूलों का सुधार नहीं करना। जो पुरुष सहिष्णुतापूर्वक अपनी भूलों का सुधार कर लेता है, उसको द्रोह स्पर्श तक नहीं कर सकता।

५८. प्रत्येक व्यक्ति को द्रोह सर्वथा छोड़ देना चाहिये और अपने प्रत्येक व्यवहार-कार्य में शान्ति से काम लेना चाहिये।

५९. जहाँ घूसखोरी, लूटपाट, महंगयारी और आपसी फूट का साम्राज्य रहता है, वहां न प्रजा को सुख मिलता है, और न सुखभर निद्रा आ सकती है।

६०. जीव संसार में अकेला ही आता है और अकेला ही जाता है; ऐसी परिस्थिति में एक धर्म को अपना लेने से आत्मा का उद्धार होता है और किसी से नहीं।

६१. जीवन, स्नेही, वैभव और शरीर-शक्ति आदि जो कुछ दृश्यमान सामने हैं, वह समुद्री तरंगों के समान क्षण-भंगुर हैं। वह न कभी किसी के साथ गया और न किसी के साथ जाता है।

६२. जैसे सुगन्धित वस्तु की सुवास कभी छिपी नहीं रहती, वैसे ही गुण अपने आप चमक उठते हैं।

६३. जो सज्जन होते हैं वे सद्गुणी होकर भी अंशमात्र ऐंठते नहीं और न ही अपने गुण को अपने मुख से जाहिर करते हैं।

६४. जिस प्रकार आधा भरा हुआ घड़ा छलकता है, भरा हुआ नहीं; कांसे की थाली रणकार शब्द करती है, स्वर्ण की नहीं; और गदहा रेंकता है, घोड़ा नहीं; इसी प्रकार दुष्ट स्वभावी दुर्जन थोड़ा भी गुण पाकर ऐंठने लगते हैं और अपनी स्वल्प बुद्धि के कारण सारी जनता को मूर्ख समझने लगते हैं।

६५. जिसके कुटुम्ब में कभी सुख और कभी दुःख इस प्रकार तुमुल जमा रहता है, वह सुखी नहीं महान् दुःखी है।

६६. समाज में जब तक धर्मश्रद्धालु श्रावक-श्राविकाएँ न होंगी तब तक समाज अस्त-व्यस्त दशा में ही रहेगा।

६७. हाट, हवेली, जवाहरात, लाडी, वाडी, गाड़ी सेठाई और सत्ता सब यहीं पड़े रहेंगे। दुःख के समय, इनमें से कोई भी भागीदार नहीं होगा और मरणोपरान्त इनके ऊपर दूसरों का आधिपत्य हो जाएगा।

६८. अशाश्वत एवं क्षणभंगुर सुख में लिप्त न रह कर ऐसे आनन्द को प्राप्त करने का यत्न करो जो कभी नाशवान ही न हो।

६९. कर्म-सत्ता को जिसने जीत लिया वही सच्चा विजयी है, इसलिए इसे जीतने का सच्चा मार्ग सीखो।

७०. प्राप्त दौलत से सुकृत करो, वह तुम्हें आगे भी सहायक सिद्ध हो सकेगा।

७१. मनुष्य जैसा हराम-सेवन और संग्रहवृत्ति में तल्लीन हो जाता है, वैसा वह यदि प्रभु-भजन में रहा करे तो उसका बेड़ा पार होते देर नहीं लगती।

७२. अपनी मति को सदैव वैराग्य-रस में ओत-प्रोत रखो, जिससे जन्म-मरण सम्बन्धी दुःख मिटता जाए और आत्मा सुखमय बनती जाए।

७३. मिथ्यात्वी काले नाग से भी भयंकर है। काले नाग का ज़हर तो मन्त्र या औषधि द्वारा उतारा जा सकता है, किन्तु मिथ्यात्व-ग्रसित व्यक्ति की वासना कभी अलग नहीं की जा सकती।

७४. परिग्रह-संचय शान्ति का शत्रु है, अधीरता का मित्र है, अज्ञान का विश्राम-स्थल है, बुरे विचारों का क्रीड़ोद्यान है, घबराहट का खजाना है, प्रमत्तता का मन्त्री है और लड़ाई-दंगों का निकेतन है, अनेक पाप कर्मों का कोष है और विपत्तियों का विशाल स्थान है, अतः जो इसे छोड़कर सन्तोष धारण कर लेता है, वह संसार में सर्वत्र-सदैव सुखी रहता है।

७५. जब तक हम स्वयं अपनी कमजोर आदतों पर शासन न कर लें, तब तक हम दूसरों को कुछ नहीं कह सकते; अतः सर्वप्रथम प्रत्येक व्यक्ति को अपनी निर्बलताओं को सुधार कर, फिर दूसरों को सुधारने की इच्छा रखनी चाहिये।

७६. वर्षा का जल सर्वत्र समान रूप से बरसता है, परन्तु उसका जल इक्षु-क्षेत्र में मधुर, समुद्र में खारा, नीम में कड़वा, और गटर में गन्दा बन जाता है। इसी प्रकार शास्त्र-उपदेश परिणाम में सुन्दर है।

७७. जो मानव ऊँचे कुल में जन्म लेकर भी अपने आचार-विचार घृणित रखता है, वह नीच है; और जो अपना आचार-विचार सराहनीय रखता है, वह नीच कुलोत्पन्न होकर भी ऊँचा है। □

भटके पाँव
खोज लेते हैं
उन हमउम्र मंजिलों को
नहीं पकड़ पाये थे
जिन्हें
बुड्ढे रास्ते।

—सेठिया

जन्म : पौष शु. ७, वि. सं. १८२७)　　　(दिवंगत : पौष शु. ७; वि. सं. १९६३

जैन विश्वकोशकार श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी

राजेन्द्रसूरि जीवन-वृत्त

जन्म

३ दिसम्बर १८२७

दिवंगति

२१ दिसम्बर १९०६

१८२७ जन्म : ३ दिसम्बर, भरतपुर (राजस्थान); पिता : श्री ऋषभदास पारख, माता : श्रीमती केसरीवाई; ज्येष्ठ भ्राता : श्री माणिकचन्द; छोटी बहिन : श्री प्रेमावाई; नाम-संस्कार : रत्नराज।

१८२८–३७ लौकिक शिक्षा, अधिक विचक्षण होने के कारण तनिक लीक से हटकर और शीघ्र; मातृ-पितृ-भक्ति, नित्य कर्त्तव्य-कर्म, चित्तवृत्ति सहज वैराग्य की ओर; स्वाध्याय में प्रगाढ़ अनुराग।

१८३८–४१ अग्रज माणिकचन्द के साथ श्री केशरियाजी की तीर्थयात्रा, अन्य जैन तीर्थों की वन्दना।

१८४२–४४ अग्रज के साथ व्यापार के लिए बंगाल-प्रवास, कुछ समय वाद सिंहलद्वीप (श्रीलंका), द्रव्योपार्जन, कलकत्ता आदि महानगरों को देखते हुए घर-वापसी, माता-पिता की वृद्धावस्था में तथा उनके अन्तिम दिनों में भक्तिभावपूर्वक सेवा-शुश्रूषा, माता-पिता के देहावसान के उपरान्त धर्मध्यान में प्रवृत्त।

१८४५–४७ भरतपुर में श्री प्रमोदसूरि का आगमन, उनके प्रवचनों से वैराग्य की विवृत्ति, उदयपुर (राजस्थान) में श्री हेमविजयी से यति-दीक्षा; दीक्षोपरान्त 'रत्नराज' से 'रत्नविजय', श्री प्रमोदसूरिजी के साथ अकोला (बरार) में वर्षावास; शेषकाल में विहार और अध्ययन।

१८४८ प्रमोदसूरिजी के साथ इन्दौर में वर्षायोग।

१८४९ उज्जैन में वर्षावास; खरतरगच्छीय यति श्रीसागरचन्द्रजी के सान्निध्य में व्याकरण, न्याय, कोश, काव्य, अलंकार इत्यादि का विशेष अभ्यास; स्वल्पकाल में व्याकरण आदि में निष्णात।

१८५० मन्दसौर में वर्षावास ।

१८५१ उदयपुर में वर्षावास ।

१८५२ नागोर में वर्षावास; विनयादि गुण तथा मेधा की विचक्षणता देखकर देवेन्द्र-सूरि की प्रेरणा से उदयपुर में श्री हेमविजयजी से बड़ी दीक्षा ; पंन्यास-पद की प्राप्ति ।

१८५३ जैसलमेर में वर्षावास ।

१८५४ पाली में वर्षावास ।

१८५५ जोधपुर में वर्षावास ।

१८५६ किशनगढ़ में वर्षावास ।

१८५७ चित्रकूट में वर्षावास ।

१८५८ सोजत में वर्षावास ।

१८५९ शंभूगढ़ में वर्षावास ।

१८६० बीकानेर में वर्षावास ।

१८६१ सादड़ी में वर्षावास ।

१८६२ भीलवाड़ा में वर्षावास ।

१८५७–६२ श्री धरणेन्द्रसूरि और उनके यति-मण्डल को विद्याभ्यास ।

१८६३ रतलाम में वर्षावास; आहोर में श्री विजयप्रमोदसूरि के सान्निध्य में; वर्षावास के उपरान्त आहोर में पुनरागमन ।

१८६४ अजमेर में वर्षायोग; श्रीधरणेन्द्रसूरि द्वारा 'दफ्तरी' के रूप में नियुक्ति ।

१८६५–६६ जालोर में वर्षायोग; दफ्तरी-पद का परित्याग; यतिसंस्था में क्रान्ति की पूर्वपीठिका-रचना, मरुधर (मारवाड़) में परिभ्रमण ।

१८६७–६९ घाणेराव में वर्षायोग; श्रीधरणेन्द्रसूरिजी से इत्र-विषयक विवाद; निज-गुरू श्री प्रमोदविजयजी से आहोर पहुँचकर विचार-विमर्श और सारी स्थिति का पूरी तरह स्पष्टीकरण; आहोर में ही श्री प्रमोदसूरिजी द्वारा श्रीसंघ की सहमति से परम्परागत सूरिमन्त्र देते हुए एक धार्मिक समारोह में 'श्रीपूज्य' पद्वीदान; तदुपरान्त श्री रत्नविजयजी से श्री विजयराजेन्द्रसूरि अभिधान का आग्रहण; मरु-धर में विहार; जावरा में वर्षावास; वर्षावास की अवधि में वहाँ के नवाब और दीवान से सांस्कृतिक प्रश्नोत्तर; इसी बीच श्रीधरणेन्द्रसूरिजी के दौत्य के रूप में श्री सिद्धकुशल और मोतीविजयजी का जावरा-आगमन; श्रीमद् से प्रत्यक्ष चर्चा एवं जावरा के श्रीसंघ से प्रार्थना; श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी द्वारा गच्छ-सुधार के निमित्त "नवकलमों" का पत्र; इस कलमनामे में यतियों के निर्मलीकरण की एक नौसूत्री सुधार-योजना का प्रस्ताव तथा यतिसंस्था से अन्धविश्वासों, जर्जर और विकृत परम्पराओं; रूढ़ियों और शिथिलताओं के निरसन की व्यवस्था; दोनों यतियों के शुभ प्रयास से श्रीधरणेन्द्रसूरिजी द्वारा "कलमनामे" की स्वीकृति और उस पर संपूर्ण "सही", यतिक्रान्ति के इस घोषणापत्र का सभी प्रमुख यतियों द्वारा एकस्वर से स्वीकार ; जावरा में श्रीसंघ की प्रार्थना पर श्रीपूज्य-संबंधी

छड़ी, चामर, पालखी, शास्त्र, ग्रन्थ इत्यादि समस्त परिग्रह का श्रीसुपार्श्वनाथ के मन्दिर में अपने सुयोग्य शिष्य मुनिश्री प्रमोदरुचिजी और धनविजयजी के साथ समारोहपूर्वक परित्याग; अर्थात् "संपूर्ण क्रियोद्धार" --संसारवर्द्धक समस्त उपाधियों का त्याग और सदाचारी, पंचमहाव्रतधारी सर्वोत्कृष्ट पद का स्वीकार; शैथिल्य-चिह्न तथा परिग्रह-त्यागपूर्वक सच्चे साधुत्व का अधिग्रहण; "क्रियोद्धार" के अनन्तर खाचरोद में प्रथम वर्षायोग; त्रिस्तुतिक (तीनथुई) संप्रदाय का पुनरुद्धार; श्रावक-श्राविकाओं को धार्मिक शिक्षण प्राप्त हो तन्निमित्त प्रयत्न, मन्दिरों का जीर्णोद्धार तथा अन्य सत्कार्य।

१८७० रतलाम में वर्षावास; शेष काल में मालवा के पर्वतीय ग्राम-नगरों में विहार।

१८७१ कुक्षी में वर्षावास, प्रवचनों में ४५ आगमों का सार्थ वाचन, तदनन्तर दिगम्बर सिद्धक्षेत्र मांगीतुंगी के पर्वत-शिखर पर आत्मोत्थान के निमित्त छह महीनों की दुर्द्धर तपश्चर्या।

१८७२ राजगढ़ में वर्षावास; शेषकाल में मालवा-अंचल में विहार।

१८७३ रतलाम में वर्षावास; त्रिस्तुतिक सिद्धान्त विषय पर शास्त्रार्थ एवं विजय; अनेक स्थानों पर विपक्षियों द्वारा उपसर्ग, किन्तु असीम सहिष्णुता और धैर्य के साथ भगवान् महावीर के संदेश के प्रचार-प्रसार में समुद्यत।

१८७४ जावरा में वर्षावास; विपक्षियों को उत्तम शिक्षा, तदनन्तर मारवाड़ की ओर प्रस्थान।

१८७५ आहोर में वर्षावास।

१८७६ आहोर में पुनः वर्षावास; आहोर के श्रीसंघ के मनोमालिन्य का निरसन; वरकाना में दीक्षाएँ।

१८७७ जालोर में वर्षावास, मारवाड़ में वीर-सिद्धान्त का प्रचार; जालोर दुर्गस्थित जिनालयों को, जिनका शस्त्रागारों की भाँति उपयोग हो रहा था, सरकारी अधिकार से मुक्ति और उद्धार, विशाल समारोहपूर्वक प्रतिष्ठा; जावरा में पादार्पण, ३१ जिन-बिम्बों की प्राण-प्रतिष्ठा और मन्दिरों में स्थापना।

१८७८ राजगढ़ में वर्षायोग।

१८७९ रतलाम में वर्षायोग; कुक्षी में २१ जिन-बिम्बों की प्रतिष्ठा।

१८८० भीनमाल में वर्षायोग, आहोर में प्राचीन चमत्कारी श्रीगौड़ीनाथ पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा।

१८८१ शिवगंज में वर्षायोग तदुपरान्त मालवा में पादार्पण।

१८८२ अलीराजपुर में वर्षायोग, तदनन्तर राजगढ़ में पादार्पण, श्री मोहनखेड़ा मन्दिर की रचना का सूत्रपात।

१८८३ कुक्षी में वर्षायोग।

१८८४ राजगढ़ में वर्षायोग, श्री मोहनखेड़ा के मन्दिर की प्रतिष्ठा और ४१ जिन-प्रतिमाओं की प्राण-प्रतिष्ठा; धामणदा तथा दसाई में प्रतिष्ठाएँ; गुजरात में विहार।

१८८५ अहमदाबाद में वर्षायोग; श्री विजयानन्दसूरि से त्रिस्तुतिक सिद्धान्त पर चर्चा; सौराष्ट्र में विहार; श्री गिरनार तथा शत्रुंजय तीर्थों की यात्रा।

१८८६ धोराजी में वर्षावास; सौराष्ट्र से उत्तर गुजरात की ओर पादार्पण; थराद-अंचल में परिभ्रमण।

१८८७ धानेरा में वर्षावास; श्री भीलडीया पार्श्वनाथ की यात्रा; शेष समय थराद क्षेत्र में विहार।

१८८८ थराद में वर्षावास।

१८८९ वीरमगाम में वर्षावास; मारवाड़ में पादार्पण; २५० जिन-प्रतिमाओं की प्राण-प्रतिष्ठा, श्रीआदिनाथ एवं श्रीअजितनाथ के मन्दिरों की प्रतिष्ठा।

१८९० सियाणा में वर्षावास; "श्री अभिधान-राजेन्द्र कोश" की रचना का आरंभ।

१८९१ गुड़ा में वर्षावास।

१८९२ आहोर में वर्षावास; तदनन्तर मालवे की ओर पादार्पण।

१८९३ निम्बाहेड़ा में वर्षावास; श्री आदिनाथ आदि जिन-प्रतिमाओं की प्राण-प्रतिष्ठा; मालवे के पर्वतीय ग्राम-नगरों में विहार।

१८९४ राजगढ़ में वर्षावास; रिंगनोद में जिन-प्रतिमाओं की प्राण-प्रतिष्ठा और मन्दिर में स्थापना।

१८९५ राजगढ़ में वर्षावास; तदनन्तर मालवा में परिभ्रमण; आवुआ में २५१ जिन-प्रतिमाओं की प्राण-प्रतिष्ठा।

१८९६ जावरा में वर्षावास; बड़ी कड़ोद में २१ जिन-प्रतिमाओं की प्राण-प्रतिष्ठा और मन्दिर में उनकी सुविध स्थापना; अट्ठाई महोत्सव का अपूर्व आयोजन।

१८९७ रतलाम में वर्षावास; तदुपरान्त मरुधर (मारवाड़) में पादार्पण।

१८९८ आहोर में वर्षावास; श्री आहोर श्रीसंघ की ओर से श्रीगौड़ी पार्श्वनाथजी के बावन जिनालयों की प्रतिष्ठा; ९५१ जिन-प्रतिमाओं की अंजनशलाकाएं निज कर से संपन्न; मारवाड़ में सर्वप्रथम इतना विशाल समारोह, जिसमें यातायात की असुविधाओं के होते हुए भी ५० हजार श्रावक-श्राविकाएँ सम्मिलित।

१८९९ शिवगंज में वर्षावास; गच्छ की मर्यादा को सुरक्षित रखने के निमित्त चतुर्विध संघ—साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका की आचार-संहिता की रचना; संहिता में ३५ समाचारी याने कलमें हैं, जिनका वर्तमान समाज पालन करता है।

१९०० सियाणा में वर्षावास; कुमारपाल नृपति द्वारा निर्मित श्रीसुविधिनाथ चैत्य का जीर्णोद्धार; पाठशाला की स्थापना, सिरोही राज्य के छोटे मगरे में विहार।

१९०१ आहोर में वर्षावास; सियाणा में २०१ जिन-प्रतिमाओं की प्राण-प्रतिष्ठा और सुविधिनाथ चैत्य की प्रतिष्ठा।

१९०२ जालोर में वर्षावास; मरुधरीय कुणीगढ़ी में विहार, श्री कोरटातीर्थ के मन्दिरों का उद्धार, श्री संघकारित महोत्सवपूर्वक २०१ जिन-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा, आहोर में श्री शान्तिनाथ मन्दिर की प्रतिष्ठा और सुविस्तृत "श्री राजेन्द्र जैनागम बृहद् ज्ञान भण्डार" की स्थापना; केसरियाजी, तारंगाजी, भोयणी, गिरनार आदि तीर्थों की यात्रा; सम्मान और स्वागत होते हुए सूरत में पादार्पण।

१९०३ सूरत में वर्षावास; विरोधियों द्वारा प्रस्तुत प्रश्नों के सप्रमाण उत्तर; 'श्री अभिधान राजेन्द्र कोश' का समापन, तदनन्तर मालवा में पदार्पण।

१९०४ कुक्षी में वर्षावास; ७ जिन-प्रतिमाओं की प्राण-प्रतिष्ठा तथा उनका तीन-शिखरी मन्दिरों में संस्थापन; अष्टापदावतार चैत्य के लिए ५१ जिनप्रतिमाओं की प्राण-प्रतिष्ठा तथा मन्दिर में स्थापना; इसी तरह, राणापुर में ११ जिन-बिम्बों की प्राण-प्रतिष्ठा और स्थापना।

१९०५ खाचरोद में वर्षावास; सरसी में प्रतिष्ठा; २५० वर्षों से जाति-बहिष्कृत चीरोलावासी जैनों का जाति में पुनः प्रवेश, एक विकट समस्या का निर्णय और स्थायी समाधान; राजगढ़ में ३ जिनप्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा तथा नवनिर्मित ज्ञानमन्दिर में स्थापना; जावरा में नवनिर्मित मन्दिर की प्रतिष्ठा।

१९०६ बड़नगर में वर्षावास; भोपावर तीर्थ की यात्रार्थ ससंघ प्रस्थान; ज्वराक्रान्त होने से राजगढ़ में पादार्पण; रुग्णावस्था के कारण श्रीसंघ चिन्तित; श्रीसंघ के भविष्य के लिए मार्गदर्शन हेतु विचार-विमर्श, श्री दीपविजयजी और श्रीयतीन्द्र विजयजी को "श्री अभिधान-राजेन्द्र" के संपादन, संशोधन एवं मुद्रण का आदेश और श्रीसंघ को मुद्रणार्थ वित्त-व्यवस्था का संकेत; १९ दिसम्बर १९०६ (पौष शुक्ला ३) को सन्ध्या में अनशन-संकल्प और २१ दिसम्बर १९०६ (पौष शुक्ला ६ वि. संवत् १९६३, शुक्रवार) की संध्या को अन्तेवासियों को अन्तिम उपदेश; 'अर्हन् नमः, अर्हन् नमः' के शुभोच्चार और मंगल स्मरण करते-करते समाधियोग में लीन। श्रीसंघ द्वारा श्रीपूज्य के पार्थिव शरीर का पवित्र तीर्थभूमि श्रीमोहन-खेड़ा में २२ दिसम्बर (पौष शुक्ला ७) को विशाल जनमेदिनी के मध्य अन्त्येष्टि संपन्न।

(टीप : १. ग्रन्थों के रचना-काल विशेषांक में पृष्ठ १४७ से पृष्ठ १५३ तक दिये जाने के कारण यहां सम्मिलित नहीं किये गये हैं; २. उक्त जीवन-वृत्त 'श्रीमद्राजेन्द्रसूरि-स्मारक-ग्रन्थ' में प्रकाशित 'गुरुदेव के जीवन का विहंगावलोकन' (साध्वीश्री महिमाश्री) के लेख तथा 'जीवन-प्रभा' (श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश्वर की कृति) पर आधारित है।) □

तपोधन श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी

□ मुनि जयन्तविजय 'मधुकर'

नि:सन्देह श्रीमद् का जीवन प्रारम्भिक काल से अन्तिम समय तक त्याग का पक्षपूरक रहा, त्याग में ही उनकी अभिरुचि और तद्वर्ती बाह्यान्तर परिणाम भी रहे।

गृहस्थावस्था में ज्येष्ठ बन्धु के साथ रंगून एवं कलकत्ता में रहते हुए भी वहाँ की चकाचौंध एवं जवाहरात की चकमकाहट उन्हें आकृष्ट नहीं कर पायी; किन्तु आत्मिक-आध्यात्मिक भावरूप जवाहरात का आकर्षण सम्पूर्ण आन्तर प्रदेश में सर्वांगीण रूप से प्रतिष्ठित हो चुका था। यह पूर्वभव की एक देन थी।

यही कारण था कि उनको त्याग-मार्ग इष्ट प्रतीत हुआ, माता-पिता के परलोक गमन के पश्चात् भाई से आज्ञा प्राप्त कर वे त्याग-मार्ग की ओर प्रवृत्त हुए।

शैथिल्य देखा जब त्यागिवर्ग में, उनकी आन्तर-चेतना जागृत हुई, त्याग किया फिर राग क्यों? राग यदि त्याग-मार्ग में प्रबुद्ध बनने में अवरोधक बनता है तो उस रागासक्ति का समाप्तिकरण उपादेय है। श्रीमद् की धारणा-शक्ति ने आत्मबल को प्रकट करने की प्रेरणा दी।

क्रम था, उपक्रम हुआ।

अनुक्रम तो अनुपम रहा। उनका यह निर्णय था : 'त्यागिवर्ग में व्याप्त शिथिलता का सर्वथा अन्त ही त्यागधर्म की प्रतिष्ठा बढ़ा सकेगा' फलस्वरूप उन्होंने सचमुच एक अडिग शासन-संरक्षक के रूप में अपने आपको तत्पर किया और स्वयं का जीवन तदनुरूप निर्मित किया।

आद्योपान्त द्रव्य-भाव या व्यवहार-निश्चय-समवेत-संयुक्त जीवन उनका एक उद्भट्ट त्यागवीर का जीवन्त प्रतीक बन गया; जाज्वल्यमान जीवन जिन-शासन के पटल पर अंकित हो गया।

अभूतपूर्व त्याग के उनके अविस्मरणीय जीवन-प्रसंग उनकी गौरवगाथा असाधारण रूप से सदा के लिए गाते रहे हैं और त्याग की गरिमा को अक्षुण्ण बनाये रखने का पावन कर्त्तव्य निभा रहे हैं। यही तो श्रीमद् के पवित्रतम जीवन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

त्याग जिनशासन का एक पावनतम अंग है; त्याग ही जीवन में अपने लक्ष्य की सम्प्राप्ति का एकमात्र साधन है और वीतराग परमात्मा के उस उपदेश की अनुभूति का एकमात्र निष्कलंक राजमार्ग है।

श्रीमद् अपने आपमें सुदीर्घ काल तक चिन्तनशील रहे और राग-त्याग के भगीरथ कार्य में स्वयं को त्रिकरण त्रियोग से लगाते रहे।

उनका प्रत्येक क्षण, प्रत्येक पल उसी दिशा में व्यतीत हुआ जहां से उन्हें स्वपक्ष का समर्थन मिले एवं परपक्ष से निवृत्ति।

श्रीमद् की त्यागवृत्ति ने ही उन्हें निर्माता बना दिया और उन्होंने निर्माण भी किया। उनका निर्माण स्वपक्ष (आत्मसाधकत्व) का विकासक एवं परपक्ष का निरसनकारक रहा।

वे चाहते थे जिनशासन–जिनवाणी के अनुरूप जन-जन जीवन का अभ्युत्थान इसी कारण से उन्होंने त्यागमार्ग की प्रमुखता को महत्त्वपूर्ण माना।

द्रव्योपकरण में त्याग-मर्यादा का संरक्षण एवं उसका सम्पूर्णतया पालन करने में वे कृतनिश्चयी थे, इतना ही नहीं भावोपकरण में भी वही दृढ़ता प्रतीत होती है।

बेजोड़ उनका जीवन बीसवीं शताब्दी में अविस्मरणीय राग-त्याग की सुगन्ध से ओत-प्रोत रहा है जिसने अनेक व्यक्तियों को अप्रमत्त स्थिति की ओर प्रेरित किया है। त्याग की अभंग स्थिति को आबाद बनाये रखने में उन्हें कठोरतम तपोधर्म का अधिकाधिक आसेवन करना पड़ा।

जिन-मुद्रा में कई घंटों तक स्थिर रह कर पंचपरमेष्ठि का जाप, ध्यान, स्मरण उनका प्रमुख कर्त्तव्य-सा बन गया था, अनेक गांवों, नगरों में एतद् विषयक कई दृष्टान्त श्रवण किये जा सकते हैं।

मांगीतुंगी पार्वतीय क्षेत्र उनकी साधना का प्रमुख केन्द्र बन चुका था, जहाँ उन्होंने बहत्तर दिनों की एकासन, उपवास की तपश्चर्या के साथ महामंत्र के प्रथम पद के सवा करोड़ जाप किये थे।

स्वर्णगिरि दुर्ग (राजस्थान) भी उनकी ध्यान एवं तप-त्याग की पुण्यभूमि बना हुआ रहा था। निरन्तर तपश्चर्या एवं ध्यानयोग से श्रीमद् को एक भविष्यदृष्टा की अपूर्व शक्ति उपलब्ध हुई थी। भावि के भेद यदा-कदा ध्यान एवं तप-जप के बल पर उन्होंने प्रकट भी किये थे।

त्यागी का त्यागपूर्ण जीवन स्वयं का विशुद्ध प्रभावपूर्ण सृजन तो करता ही है, अपितु इसके साथ ही साथ अनेक लोगों की जीवन स्थिति का विधायक भी बनता है।

सच्चे विधाता वे ही हैं जो अप्रमत्तभाव से जीवन-निर्माण में सतत् लगे रहते हैं।

गुरुदेव प्रभु श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी के उत्कृष्ट कोटि के त्याग की भूमिका तथा पूर्ववर्ती; पश्चात्वर्ती एवं पार्श्ववर्ती जीवन उनके सहज त्याग का परिचायक है।

स्वयं के कर्त्तव्य-पालन में उन्होंने कभी भी न्यूनता न आने दी इसी कारण से वे परमयोगी स्वरूप विख्यात हुए।

साहित्य-सेवा एवं निर्माण भी उनका विशुद्धतम लक्ष्य था ही; इसी से ही तो श्रीमद्-निर्मित वृहद् विश्वकोश - जैसे श्री अभिधान राजेन्द्र कोश का अनुपम निर्माण भारत एवं भारतेतर देशों में जैन एवं जैनेतर वहुमुखी-विद्वानों की अमूल्य निधि वन गया है। उन्होंने अपने त्याग के साथ-साथ यह जो असाधारण धरोहर प्रदान की है वह युग-युग तक उनकी चिरस्मृति को वनाये रखेगा। यह त्रिकालावाधित सत्य है, हकीकत है।

श्रीमद् के जीवन के किसी भी प्रसंग को लें, तो कोई न कोई महत्त्वपूर्ण प्रेरणा हमें दृग्गोचर होगी ही।

वे जितने महान् थे और योगी थे, उतने ही निष्कषाय परिणति के पोषक भी थे। वे एक सामान्य आदमी की भी हितकारक वात को सदा के लिए स्वीकृत करने पर तत्पर रहते थे।

चतुर्मुखी प्रतिभा के धनी श्रीमद् के जीवन का त्याग-पक्ष इतना प्रवल है, इतना उज्ज्वल एवं अविरल है कि जिससे वे आजीवन जिनशासन की प्रभावना के अधिष्ठाता रहे।

उनका शुद्धतम लक्ष्य था त्यागमार्ग की प्रतिष्ठा की जाए, अतएव उनकी उपदेशधारा तदनुरूप ही प्रवाहित हुई।

"त्याग और राग के मध्य दिग्पाताल-सा महदंतर है, पूर्व-पश्चिम की-सी दीर्घ लम्बी खाई की स्थिति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, फिर त्यागी एवं रागी का समानीकरण क्यों? त्याग में फिर राग या रागी की आवश्यकता क्यों? विशुद्ध त्याग की प्रक्रिया में रागासक्त का स्मरण-मात्र भी उच्चस्थिति का प्रणाशक वनता है तव फिर त्यागी को रागी का स्मरण व स्तुति क्यों?"

"मानव-जीवन की महत्ता को समझा जाए, दिग्दर्शन किया जाए एवं स्थिति का सही अंकन किया जाय। धर्म के मर्म की अनुभूति की जाय। अहिंसा, संयम, तप की त्रिवेणी में वाह्यान्तरिक स्नान किया जाय; और दृष्टिवादी वन कर स्वाभिमुखी जीवन वनाया जाय।"

जो अवाधित रूप से सत्य समलंकृत थे उनके परमोच्च त्यागभाव ने जैन जगत् को प्रकाशमान किया और विश्वविश्रुत प्रभावकता की स्थिति को उद्भासित किया।

श्रीमद् के जीवन को जिस ओर से देखा जाए उस ओर से वह गुण-संयुक्त ही दीखेगा। □

संपूर्ण राजेन्द्रसूरि-वाङ्मय

अभिधान राजेन्द्र कोष (भाग १ से ७)
रचना-काल : सन् १८८९–१९०३
अमरकोश (मूल)
१८६९. अ. रा. को-१. परि. पृ. १४-अ
अघटकुँवर चौपाई
संकलित, अ. रा. को-१. परि. पृ. १४
अष्टाध्यायी
१८७२, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
अष्टाह्निका व्याख्यान भाषान्तर
अ. रा. को-१. परि. पृ. १४
अक्षयतृतीया कथा
संस्कृत, १८८१, रा. स्मा. ग्रं. पृ. ८९
आवश्यक सूत्रावचूरी टब्बार्थ
१८९६, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
उत्तमकुमारोपन्यास
संस्कृत, अमुद्रित, रा. स्मा. ग्रं., पृ. ९४
उपदेशरत्नसार गद्य
संस्कृत, अमुद्रित, १८९४, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
उपदेशमाला (भाषोपदेश)
१८७९, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
उपधानविधि
१८९६, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
उपयोगी चोवीस प्रकरण (बोल)
१८९२, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
उपासकदशाङ्गसूत्र भाषान्तर (बालावबोध)
अमुद्रित, १८९३, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
एक सौ आठ बोल का थोकड़ा
१८७७, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
कथासंग्रह पञ्चाख्यानसार
अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
कमलप्रभा शुद्ध रहस्य
१९०६, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४

कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म (श्लोक व्याख्या)
अमुद्रित, १८९३. अ. रा. को-१. परि. पृ. १४-अ
करणकामधेनुसारिणी
१८४८. अ. रा. को-१. परि. पृ. १४-अ
कल्पसूत्र बालावबोध (सविस्तर)
१८८३. अ. रा. को-१. परि. पृ. १४-अ
कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी
१८९०. रा. स्मा. ग्रं.. पृ. ८९
कल्याणमन्दिर स्तोत्रवृत्ति (त्रिपाठ)
१८६१. अ. रा. को-१. परि. पृ. १४-अ
कल्याण (मन्दिर) स्तोत्र प्रक्रिया टीका
१८७८, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
काव्यप्रकाशमूल
१८९६, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
कुवलयानन्दकारिका
१८६६, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
केसरिया स्तवन
१८९७, रा. स्मा. ग्रं., पृ. १२२
खापरिया तस्कर प्रबन्ध (पद्य)
अमुद्रित, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
गच्छाचारपयन्नावृत्ति भाषान्तर
१८९६, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
गतिछ्या-सारणी
१८४८, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
ग्रहलाघव
१८५८, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
चार (चतुः) कर्मग्रन्थ-अक्षरार्थ
अमुद्रित, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
चन्द्रिका-धातुपाठ तरंग (पद्य)
अमुद्रित, रा. स्मा. ग्रं., पृ. ९४
चन्द्रिकाव्याकरण (२ वृत्ति)
१८९६, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ

सं० १९२६ मार्गशीर्षशुक्ला १०

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी की लिखावट; मार्गशीर्ष शुक्ला १०, सं. १९२६ को लिखा गया 'स्थापनाचार्य' का पृष्ठ ।

चैत्यवन्दन चौवीसी
संकलित, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
चौमासी देववन्दन विधि
अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
चौवीस जिनस्तुति
संकलित, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
चौवीस स्तवन
संकलित, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
ज्येष्ठस्थित्यादेशपट्टकम्
१८६१, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति बीजक (सूची)
अमुद्रित, १८९४, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४ अ.
जिनोपदेश मंजरी
मारवाड़ी, १८९७, रा. स्मा. ग्रं., पृ. ९१

तत्त्वविवेक
१८८८, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
तर्कसंग्रह फक्किका
१८६०, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
तेरहपंथी प्रश्नोत्तर विचार
१८९७, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
द्वाषष्ठिमार्गणा--यंत्रावली
अमुद्रित, रा. स्मा. ग्रं., पृ. ९४
दशाश्रुतस्कन्धसूत्रचूर्णी
१८८५, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
दीपावली (दिवाली) कल्पसार (गद्य)
अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
दीपमालिका कथा (गद्य)
संस्कृत, अमुद्रित, रा. स्मा. ग्रं., पृ. ९४
दीपमालिका देववन्दन
१९०५, रा. स्मा. ग्रं., पृ. १२३
देववन्दनमाला
रा. स्मा. ग्रं., पृ. ९१
धनसार-अघटकुमार चौपाई
संकलित, १८७४–७५, रा. स्मा. ग्रं., पृ. ९१
ध्रष्टर चौपाई
संकलित, अमुद्रित, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
धातुपाठ श्लोकबद्ध
संकलित, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
धातुतरंग (पद्य)
१८७६, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
नवपद ओली देववन्दन विधि
अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
नवपद पूजा
१८९३, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
नवपद पूजा तथा प्रश्नोत्तर
१८९६, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
नीतिशिक्षा द्वय पच्चीशी
१८९७, रा. स्मा. ग्रं., पृ. १२२
पंचसप्ततिशत स्थान चतुष्पदी
१८९६, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
पंचाख्यान कथासार
अमुद्रित, रा. स्मा. ग्रं., पृ. ९४

आहोर-स्थित 'श्री राजेन्द्र जैनागम वृहद् ज्ञानभण्डार' के सौजन्य से प्राप्त श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर की दुर्लभ अप्रकाशित कृति 'पाइयसद्दंबुहि' (सन् १८९९ ई.) का प्रथम पृष्ठ। जिसे 'अभिधान-राजेन्द्र' का लघुरूप माना जाता है।

पञ्चकल्याण पूजा
संकलित, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४

पञ्चमी देववन्दन विधि
अ. रा. को-१, परि. पृ. १४

पर्यूषणाष्टाह्निका-व्याख्यान भाषान्तर
रा. स्मा. ग्रं., पृ. ९१

पाइयसद्दम्बुहि कोश
प्राकृत, अमुद्रित, १८९९, रा. स्मा. ग्रं., पृ. ९४

पुण्डरीकाध्ययन सज्झाय
१८८९, रा. स्मा. ग्रं., पृ. १२१

प्रक्रिया कौमुदी (१; २-३ वृत्ति)
१८५८, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ

प्रभु-स्तवन-सुधाकर
संकलित, १९७३

प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार
१८७८, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ

प्रश्नोत्तर पुष्पवाटिका
मारवाड़ी, १८७९, रा. स्मा. ग्रं., पृ. ९१
प्रश्नोत्तर मालिका
अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
प्रज्ञापनोपाङ्गसूत्र सटीक (त्रिपाठ)
१८६२, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
प्राकृत व्याकरण विवृत्ति
अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
प्राकृत व्याकरण (व्याकृति) टीका
१९०४, रा. स्मा. ग्रं., पृ. ८८
प्राकृत शब्द रूपावली
१९०४, रा. स्मा. ग्रं., पृ. ९०
बारेव्रत संक्षिप्त टीप
१८९२, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
बृहत्संग्रहणीय सूत्र चित्र (टब्बार्थ)
१८९६, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
भक्तामर स्तोत्र टीका (पंचपाठ)
१८५५, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
भक्तामर (सान्वय—टब्बार्थ)
१८९६, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
भयहरण स्तोत्र वृत्ति
१८५६, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
भर्त्तरीशतकत्रय
१८९६, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
महावीर पंचकल्याणक पूजा
१९०६, रा. स्मा. ग्रं., पृ. १२३
महानिशीथ सूत्र मूल (पंचमाध्ययन)
१८७०, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
मर्यादापट्टक
१८९९, रा. स्मा. ग्रं., पृ. १२२
मुनिपति (राजर्षि) चौपाई
संकलित, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
स्तुति प्रभाकर
अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
स्वरोदयज्ञान-यंत्रावली
अमुद्रित, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
सकलैश्वर्य स्तोत्र सटीक
१८७९, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
सद्य गाहापयरण (सूक्ति-संग्रह)
अमुद्रित, रा. स्मा. ग्रं., पृ. ९४
सप्ततिशत स्थान-यंत्र
अमुद्रित, १८९६, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
सर्वसंग्रह प्रकरण (प्राकृत गाथाबद्ध)
अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
साधु वैराग्याचार सज्झाय
१८८९, रा. स्मा. ग्रं., पृ. १२१
सारस्वत व्याकरण (३ वृत्ति)
भाषा टीका, अमुद्रित, १८६७, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
सारस्वत व्याकरण सूत्रानुक्रम
१८६६, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
सारस्वत व्याकरण स्तुबुकार्थ (१ वृत्ति)
१८७५, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
सिद्धचक्र पूजा
संकलित, १८७२, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
सिद्धाचल नवाणुं यात्रा देववन्दन विधि
अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
सिद्धान्त प्रकाश (खण्डनात्मक)
अमुद्रित, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
सिद्धान्तसार सागर (बोल-संग्रह)
अमुद्रित, १८८४, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
सिद्धहैम प्राकृत टीका
रा. स्मा. ग्रं., पृ. १०६
सिंदूर प्रकर सटीक
१८५९, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
सेनप्रश्नबीजक
अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
शंकोद्धार प्रशस्ति व्याख्या
१८९६, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ
षड्द्रव्य विचार
अमुद्रित, १८७०, रा. स्मा. ग्रं., पृ. ९४
षड्द्रव्य चर्चा
अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
षडावश्यक अक्षरार्थ
अमुद्रित, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४
शब्दकौमुदी (श्लोक)
अ. रा. को-१, परि. पृ. १४

'पाइयसद्दंबुहि' (सन् १८९९ ई.) का मध्य पृष्ठ

'शब्दाम्बुधि' कोश
अ. रा. को-१, परि. पृ. १३

शान्तिनाथ स्तवन
१८८५, रा. स्मा. ग्रं., पृ. १२१

हीर प्रश्नोत्तर बीजक
अमुद्रित, १८९५, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ

हैमलघुप्रक्रिया (व्यंजन संधि)
१८९६, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ

होलिका प्रबन्ध (गद्य)
अमुद्रित, १८५९, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ

होलिका व्याख्यान
संस्कृत, रा. स्मा. ग्रं., पृ. ९२

रसमञ्जरी काव्य
१८६६, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ

राजेन्द्र सूर्योदय
१९०३, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४

'पाइयसद्दंबुहि' (सन् १८९९ ई.) का अन्तिम पृष्ठ

लघु संघयणी (मूल)
१८६१, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ

ललित विस्तरा
१८७२, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ

वर्णमाला (पाँच कक्का)
१८९७, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ

वाक्य-प्रकाश
१८५९, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ

वासठ मार्गणा विचार
अ. रा. को-१, परि. पृ. १४

विचार-प्रकरण
१८५२, अ. रा. को-१, परि. पृ. १४-अ

विहरमाण जिनचतुष्पदी
१८८९, रा. स्मा. ग्रं., पृ. १२१

त्रैलोक्यदीपिका–यंत्रावली
अमुद्रित, अ. रा. को-१, पृ. १४

(शेष पृष्ठ ६२ पर)

कविवर प्रमोदरुचि और उनका ऐतिहासिक 'विनतिपत्र'

सम्यक्त्व और सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए श्रीमद्राजेन्द्रसूरीश्वर ने जो कदम उठाये थे, कविवर का मन उन पर मुग्ध था। परम्परा में निगी धार्मिक विकृतियों और कुरीतियों, मिथ्यात्व और पाखण्ड के निरसन में उन्होंने आत्मनिरीक्षण करते हुए परिशुद्धि का जो शंखनाद किया था, कविवर प्रमोदरुचिजी ने उसे प्रत्यक्ष देखा था। कवि का मन क्रान्ति की उस अपूर्व चेतना से पुलकित था। उन्हें लगा था जैसे हठाग्रह, पाखण्ड, पोंगापन्थ और अन्धे ढकोसलों का जमाना लद गया है और श्रीमद् के रूप में धर्म का एक नवसूर्योदय हुआ है।

☐ इन्द्रमल भगवानजी

कविवर प्रमोदरुचि भींडर (मेवाड़, राजस्थान) के विख्यात उपाश्रयाधीश यतिवर्य श्री अमररुचि से १८५६ ई. में दीक्षित हुए थे। इस परम्परा के अन्तर्गत मेवाड़-वर्तुल के अनेक उपाश्रय विशाल ग्रन्थागारों से संयुक्त थे। उपाश्रयाधीशों की इस पीढ़ी में कई मेधावी विद्वान् हुए, जिन्होंने स्वयं तो विपुल साहित्य-रचना की ही, अन्य अनेक विद्वानों और लिपिकों (लेहियाओं) को भी आश्रय दिया। उनकी इस सत्प्रवृत्ति का सुफल यह हुआ कि कई मौलिक ग्रन्थ लिखे गये और लेहियाओं द्वारा उपाश्रयों से जुड़े ग्रन्थागार व्यवस्थित रूप में समृद्ध हुए। श्रीपूज्यों की परिष्कृत रुचियों के कारण ये ग्रन्थागार व्यवस्थित हुए और इन्होंने विद्वानों की एक अटूट पीढ़ी की रक्षा की। वैसे अधिकांश यति खुद अच्छे लेखक होते थे और समय-समय पर विविध विषयों पर अपनी लेखनी उठाते थे, किन्तु साथ ही वे अपने निकटवर्ती क्षेत्र के विद्वानों को भी साहित्य-सृजन के लिए प्रेरित करते थे। वे लेखन-सम्बन्धी उपकरणों की निर्माण-विधियों, ग्रन्थों के संरक्षण, उनके अलंकरण, उनके आकल्पन तथा उनकी कलात्मक सज्जा-रचना में निष्णात होते थे, यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी तक लेखन और चित्रकलाएँ परस्पर एक-दूसरे की पूरक विधाएँ रहीं और एक-दूसरे को समृद्ध करती रहीं। १९ वीं सदी में, जबकि सारा मुल्क राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक उथल-पुथल का शिकार था, लेखन और चित्रकला के मर्मज्ञ यतियों ने हस्तलिखित ग्रन्थों की परम्परा का संरक्षण किया और उसे अटूट बनाये रखने के प्रयत्न किये; किन्तु देश में मुद्रण के सूत्रपात के साथ
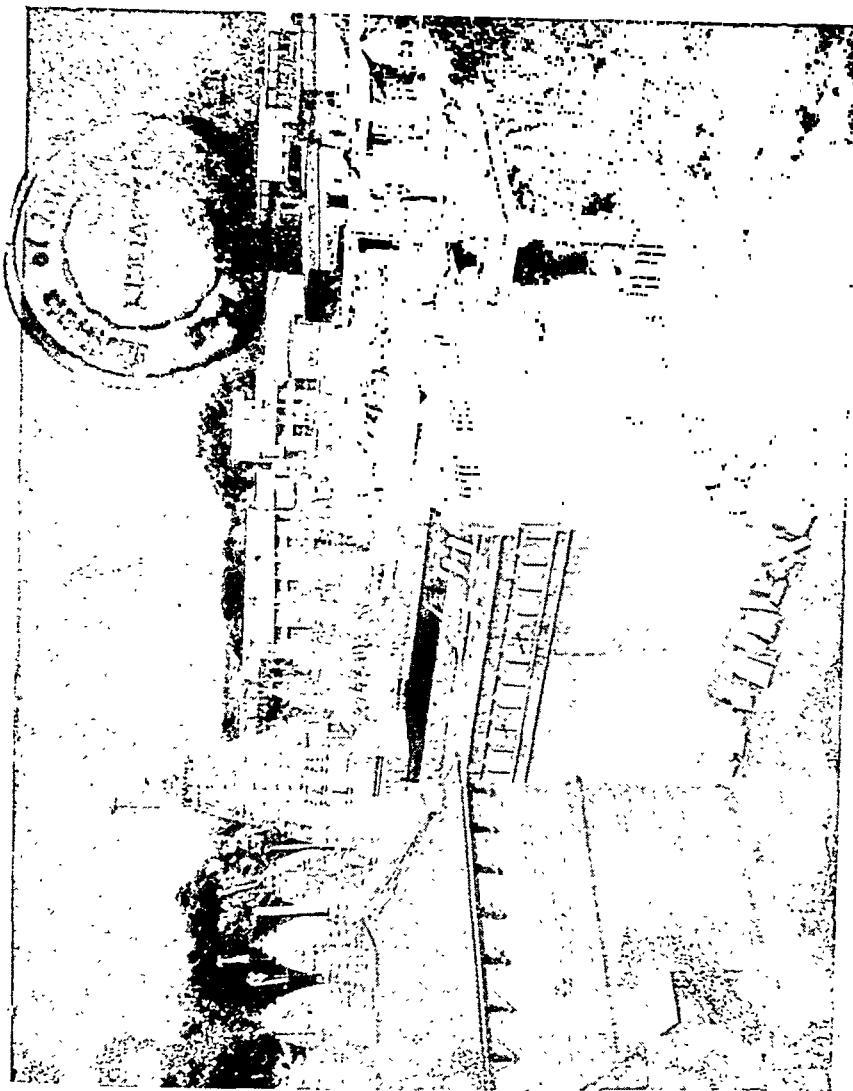
ही इस कला का ह्रास होने लगा और चित्रकला से संयुक्त लेखन-कला मात्र इतिहास में उल्लेख की वस्तु रह गयी।

श्री प्रमोदरुचि अच्छे कवि तो थे ही, एक मर्मी संगीतज्ञ, अप्रमत्त लेखक और कुशल ग्रन्थागार-संरक्षक भी थे। उनके समय में भींडर का शास्त्र-भण्डार अपने ग्रन्थ-वैभव के कारण सुप्रसिद्ध था। घाणेराव (मारवाड़) के चातुर्मास में, जिसने यति-संस्था को जड़मूल से ही बदल डाला, आप भी श्रीमद्राजेन्द्रसूरि के साथ थे। उन्हें श्रीमद् की सम्यक्त्व-चिन्तना और समाजोद्धार के भावी संकल्पों में यति-संस्था एवं श्रावक-वर्ग के कल्याण का उन्मेष स्पष्ट दिखायी दे रहा था। उन्होंने श्रीमद् में एक विलक्षण सांस्कृतिक नेतृत्व को अंगड़ाई लेते अनुभव किया था। श्रीपूज्य ने इत्र की घटना को लेकर जब श्रीमद् की अवमानना की और उन्हें चेतावनी दी, तब कविवर भी राजेन्द्रसूरिजी के साथ उस कंटीली डगर पर चल पड़े जो उस समय अनिश्चित थी और जिस पर चलने में कई सांस्कृतिक खतरे स्पष्ट थे। श्रीपूज्य के आश्रय में उपलब्ध यतिसुलभ सुखोपभोगों को तिलांजलि देकर प्रमोदरुचिजी ने जिस साहस का परिचय दिया, वह ऐतिहासिक था और उसने श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी की योजनाओं को एक संकीर्ण डगर से निकालकर एक निष्कण्टक राजमार्ग पर लाने में बहुत बड़ी सहायता की। अन्य शब्दों में प्रमोदरुचिजी राजेन्द्रसूरिजी के दाहिने हाथ थे। श्रीमद् के साथ कविवर ने भी सन् १८७३ में जावरा में क्रियोद्धार के अवसर पर दीक्षोपसंपद ग्रहण की। कविवर का व्यक्तित्व विलक्षण था; वे सद्गुणग्राही, नीर-क्षीर-विवेकी और पण्डित-जीवन के आकांक्षी थे। श्रीमद् के प्रति उनके हृदय में अपरिसीम श्रद्धा-भक्ति थी, जिसका परिचय "विनतिपत्र" से सहज ही मिलता है। श्रीमद् को सम्बोधित प्रस्तुत 'विनतिपत्र' कविवर ने अपने दोहद-वर्षायोग (१८७३ ई.) में लिखा था। मूल "विनतिपत्र" विस्तृत है, *अतः यहाँ हम उसके कुछ अंश ही उद्धृत कर रहे हैं :*
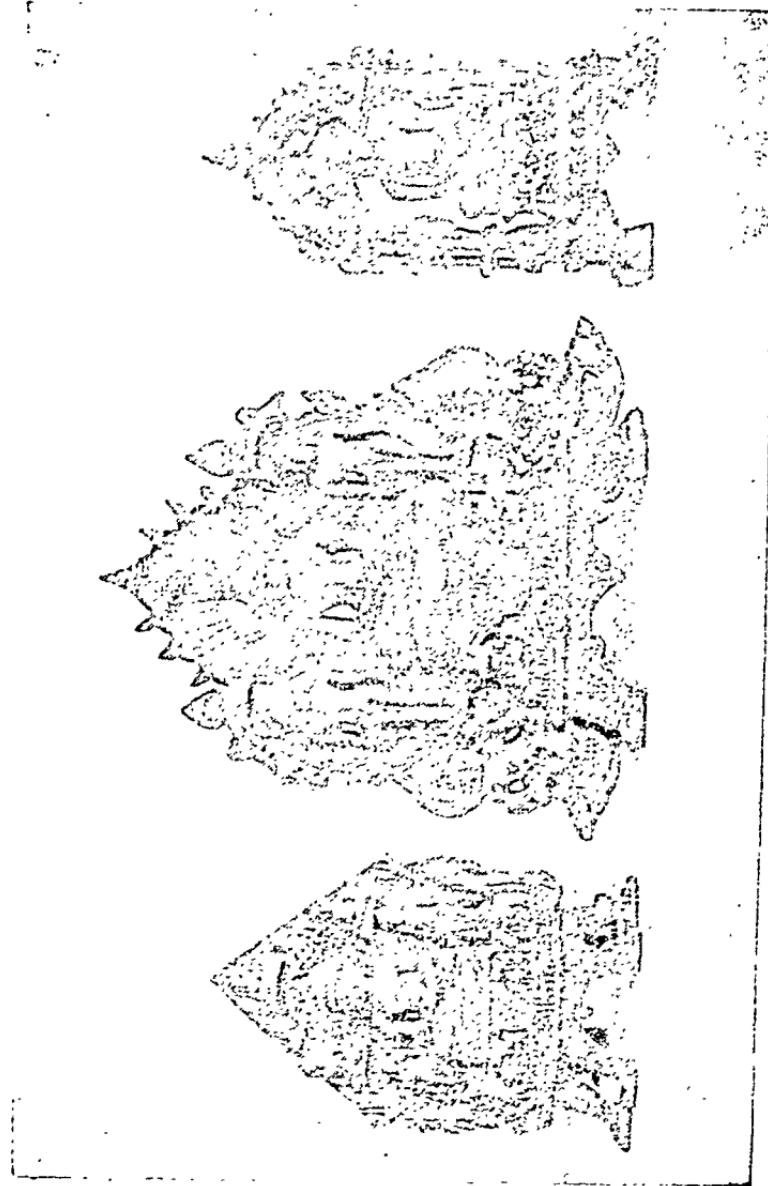
'परमगुरु प्रणमुं सदा, रतनावत जस भास।
राजेन्द्रसूरि रत्नगुण, गच्छपति गहर निवास।।
ना कछु चित्त विभ्रम पणे, ना कछु लोकप्रवाह।
परतिख गुण सरधा विषे, धारित भयो उछाह।।
मुनि जंगम कल्पद्रुमा, वांछित पूरण आस।
भव-भव के अघ हरन को, फल समकित दे खास।।

उपकारी अवतार हो, प्रभु तुम प्रवर निधान।
भविपंकज पडिवोहने, विकसित उदयो भान।।
त्यागी वड़भागी तुमे, सूरवीर ससधीर।
जिनशासन दिग्विजयति, वादीमद-जंजीर।।
वादि-दिग्गज कैहरी, कुमतिन को करवाल।
स्याद्वाद की युक्तियुक्त, वोधे सहु मति वाल।।

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरि के उपदेश से विनिर्मित श्री पार्श्वनाथ जिनालय बागरा, (राजस्थान)

धातु-प्रतिमाएँ; अमरसर (बीकानेर, राजस्थान); वि. ११वीं–१३वीं शती

सागर समता के सही, उदधि जिसा गंभीर।
अटल मेरु जिम आन्तरहिं, पंचमहाव्रत धीर॥
अप्रमत्त विचरे दुनि, भारंड परे भविकाज।
निरलेपी-निरवालम्बी, एम गच्छपति आज॥

कविवर ने श्रीमद् के साथ रहते हुए जिस गुण-वैशिष्ट्य का अनुभव किया, उसकी उन्होंने अपने "विनतिपत्र" में बड़ी काव्योचित विवृति की है। इस दृष्टि से "विनतिपत्र" एक ऐतिहासिक दस्तावेज है, जो श्रीमद् के महान् व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने के साथ ही उनकी समकालीन सांस्कृतिक स्थितियों का भी विश्वसनीय विवरण प्रस्तुत करता है। "विनतिपत्र" में कविवर ने श्रीमद् से कृपा-पत्र की अपेक्षा की है, लेकिन सम्यक् मुनि-मर्यादा से; उन्होंने लिखा है—

"कृपापत्र मुनिराज के देवे की नहीं रीत।
अनुमोदन प्रभु राखिके, उचरावो समकित॥
कृपा सहित भवि जीव पे, राखो धर्म सनेह।
तेहथी आशा राखतो, जिम मुनि-मारग सुनेह॥

यद्यपि साध्वाचार में परस्पर पत्र-लेखन पहले निषिद्ध था तथापि तब भी क्षमापनार्थ ऐसे "विनतिपत्र" अपने श्रद्धास्पद-गच्छनायक को देने की रीत थी। ये विनतिपत्र खूब सजावट के साथ लिखे जाते थे। इन्हें तैयार करने में प्रचुर चित्रकारीयुक्त शोभन प्रसंग-चित्र भी अंकित किये जाते थे। स्थानीय विवरण, संघ-समुदाय, धर्मक्षेत्र, ऐतिहासिक विशेषताएँ, साहित्यिक एवं धार्मिक गतिविधियों के ब्यौरे इन विनतिपत्रों में समाविष्ट होते थे। कई संग्रहालयों में इस तरह के विनतिपत्र उपलब्ध हैं, जो अध्ययन-अनुसंधान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, और जिनका विशद अध्ययन किया जाना अपेक्षित है। कविवर प्रमोदरुचि के "विनतिपत्र" को भी व्यवस्थित पाठालोचन और सम्पादन के साथ प्रकाशित किये जाने की आवश्यकता है।

कविवर के "विनतिपत्र" में अनेक उपयोगी विषयों का समावेश है। साध्वाचार के पगाम सज्झाय, गौचरी के नियम, दिनचर्या, समता, हिम्मत, विहार इत्यादि अनेक विषयों का इसमें उल्लेख है। गच्छाधिप और उसके आज्ञानुवर्ति मुनिगण के पारस्परिक व्यवहार-सम्बन्धों का भी विवरण इसमें है। इस सबके उपरान्त कठोर, अविचल मुनिचर्या में निरत एक सहृदय कवि के सरस कवित्व की चन्दन-सुरभि की गमक भी इसमें है। श्रीमद् के विषय में प्रमोदरुचि लिखते हैं—

'पंकज मध्य निगूढ़ रह्यो अलि चाहे दिवाकर देखनकुं।
मेघ-मयूर मराल सुवांछित, पद्म-सरोवर सेवनकुं॥
सम्यग् दृष्टि सुदृष्टि थिरादिक, ध्यावहि व्रत सुलेवनकूं।
मुनिनाथ राजेन्द्र गणाधिप के, सहुसंघ चहे पय सेवनकुं॥

पीरहरै पट काय कृपानिधि, भाव उभै धर संजम नीको।
वाहिर-अन्तर एक वरावर, पीर हरै भव फेरज नीको ।।
आप तरै पर तारक जंगम है उदधि तरणीवर नीको।
सूरविजय राजेन्द्र यतिसम, संपइ और न गुरु अवनीको ।।

श्रीमद् में आदर्श मुन्युपम समग्र गुणों का समवेत योग पाकर ही कविवर ने श्रीमद् राजेन्द्रसूरि से ही दीक्षोपसंपद् स्वीकार की थी। यति-दीक्षा के उपरान्त वे किसी योग्य गुरु की तलाश में अविश्रान्त प्रयत्नशील रहे थे।

दीक्षोपसंपद् ग्रहण करने के पश्चात् कविवर को श्रीमद् की सेवा का पर्याप्त अवसर मिला था। मरुधर की ओर विहार करने से पहले १८७३ ई. तक वे श्रीमद् के साथ छाया की भाँति रहे। १८७१ ई. में श्रीमद् ने माँगीतुंगी में अत्मोन्नति के निमित्त छह माह की कठोर तप-आराधना की थी। उस वर्ष कविवर ने श्रीमद् की अतीव भक्ति की, वे निरन्तर उनकी छत्रछाया में रहे तथा ज्ञान, ध्यान और विशुद्ध मुनिचर्या द्वारा आत्मोन्नति की परम साधना का अमूल्य मार्ग-दर्शन लेते रहे। श्रीमद् की निश्रा में उन्हें विशिष्ट आत्मतोप था। १८७९ ई. का वर्पावास श्रीमद् के साथ न होने के कारण उनमें श्रीमद् की दर्शन-उत्कण्ठा और विह्वलता वनी रही। धर्म-वात्सल्य की यह विकलता अनेक साधक शिष्यों में प्रायः देखी गयी है; यथा—

'एह गुरु किम वीसरै, जहसुं धर्मसनेह।
रात-दिवस मन साभरे, जिम पपइया मेह ।।
सद्‌गुरु जाणी आपसुं, मांड्यो धर्मसनेह।
अवरन को स्वप्नान्तरे, नवि धारुं ससनेह ।।

मास वरस ने दिन सफल, घडीज लेखे होय।
श्री गुरुनाथ मेलावडो, जिणवेला अम होय ।।
धन्न दिवस ने धन घड़ी, धन वेला धन मास।
प्रभु-वाणी अम सांभलां वसी तुमारे पास ।।

स्नेह भलो पंखेरुआँ, उड़ने जाय मिलंत।
माणस तो परवस हुआ, गुरुवाणी न लहंत ।।

कविवर में कई भापाओं में काव्य-रचना की क्षमता थी। छन्द-अलंकार इत्यादि काव्यांगों पर भी उनका अच्छा अधिकार था। मेवाड़ के राजवंशों के सम्पर्क में रहने के कारण उन्हें दरवारी सामन्तों और राज्याश्रयी कवियों की भाँति डिंगल आदि प्राचीन भापाओं का गहरा ज्ञान था।

डिंगल भापा के ओजस्वी प्रयोग का एक उदाहरण श्रीमद् के साहस वर्णन में मिलता है। कविवर ने "कमलछन्द" के माध्यम से यह "हिम्मत-वर्णन" किया है—

न्याय नये निरधार, खडग चौधार सुसमता।
सूरि विजय राजेन्द्र यति, छोडी सहु ममता।।

गड़बड़ता गहरी हुई, अवसरपणि पणकाल।
भाँति-भाँति के भेद में, खातपात प्रतिचाल।।
खातपात प्रतिचाल टाल मुनिमारग सोध्यो।
उज्जड घाटकुवाट, फैलफैलन को रोध्यो।।

वादी मद झरी आप, तेज लखि भागे पड़पड़।
सूरि विजय राजेन्द्र छुडा दीनी सब गड़बड़।।

समाजोत्थान के महान् संघर्ष में जातिवाद और गच्छवाद की दीवारें श्रीमद् की क्रान्ति का अवरोध नहीं कर सकीं। जिस अपूर्व बल और संकल्प से श्रीमद् ने सामाजिक और चारित्रिक क्रान्ति के इस काम को उठाया था, वह निरन्तर सफल होता गया। श्री चूलगिरि तीर्थ के वर्षों तक चले विवाद के सन्दर्भ में श्रीमद् के लिखित वक्तव्य ने उसे जैनों को उपलब्ध कराया था। जालोर दुर्ग-स्थित प्राचीन जैन मन्दिरों को राठोड़ी शासन से मुक्त कर उन्हें श्रीमद् ने जैन समाज को सिपुर्द कराया। इन मन्दिरों का सरकार द्वारा वर्षों से शस्त्रागारों के रूप में उपयोग हो रहा था। इस तरह अत्याचार और अन्याय से पीड़ित समाज को मुक्त कराने में श्रीमद् ने महान् तत्परता व्यक्त की थी। मन्दिरों का जीर्णोद्धार श्रीमद् की क्रान्ति का एक महत्त्वपूर्ण अंग था।

'पर उपकारी प्राणि ने, निष्कारण निरबन्धु।
भवसिन्धु विच पतित को, तारक प्रवर गुणिन्दु।।

मुनि-पुंगव पूरे यति, दशविध धर्म के धार।
वर्तमान विचरे जयो, दुर्द्धरव्रत धरी भार।।
दुर्द्धर व्रत धरी भार, लोष्टसम कंचन पेखे।
रागे वर वडभागि, विषय न विलोचन देखे।।

स्तुति निन्दा चिहुं समगिणि विहरे शमदमता दुनि।
पंचम काल सुचालसूं प्रतपे रवि राजेन्द्र मुनि।।

दरसन ते दुरितहि नसे, भक्तिन तें भवनास।
वन्दन तें वांछित मिले, अवलोकित फले उपास।।
भक्ति वशे कछु वर्ण की हीनाधिक पुनरुक्ति।
ते खमजो गुण सिंधुजी, झाझी नहिं मुझ शक्ति।।

श्रीमद् का उत्कृष्ट साध्वाचार और मुनि-जीवन उनकी अप्रमत्त दिनचर्या जन-साधारण के लिए जैसे साक्षात् दशवैकालिक सूत्र ही थी। यद्यपि उच्चकोटि के शास्त्रज्ञ विद्वान् प्रायः समय-समय पर होते रहे हैं लेकिन विशुद्ध और प्रामाणिक

धर्म के आडम्बरों में उलझे हुए थे। सद्गुरु दुर्लभ थे, प्रवंचक और धोखादेह लोग ही साधुओं के वेष में आम लोगों के साथ विश्वासघात और छल कर रहे थे। ऐसे कठिन समय में भी कविवर को सद्गुरु पाने में सफलता मिली। एक लावणी में उन्होंने लिखा है—

'सफल करो श्रद्धान, मान तज कुमती को वारो।
समझकर समता को धारो।।
कर्म अनन्तानुबन्धी भवों का, जिन भेट्यां सरक्या।
चेतना निर्मल हुए हरख्या।।

दोहा—चेतना निर्मल होय के, कर भक्ति राजेन्द्र।
सूरीश्वर सिर सेहरो, वन्दो भविक मुनीन्द्र।।
जगत में प्रवहण निरधारो।।

पंचम आरे एह शुद्ध मुनिवर उपगारी।
क्षमा को खड्ग हाथ धारी।।
पंचमहाव्रत धार मारकर ममता विषधारी।
जिन्हों का संजम वलिहारी।।

दोहा—वलिहारी मुनिराज की, मारी परिसह फौज।
अमृत वचन प्रमोद सुं, रुचि वन्दे प्रति रोज।।
कालत्रिहुं वन्दन धारो।।

कविवर ने श्रीमद् की निश्रा में ज्ञान की अविराम आराधना और तप की उत्कृष्ट साधना की। वे ध्यान-योगों की प्रवृत्ति भी नियमित किया करते थे। श्रीमद् की भाँति ही रुचिजी भी एक-एक पल का अप्रमत्त उपयोग करते थे। उनकी इन आध्यात्मिक उपलब्धियों का वर्णन इस रूपक में दृष्टव्य है—

मैं तो वन्दूं मुनीश्वर पाया।
ध्यान शुक्ल मन ध्याया।।

उपशम रस जल अंग पखारे, संजम वस्त्र धराया।
आयुध अपने उपधि धारी, दृढ़ मन चीर उपाया।।
तप चउरंगी सैन्य सजाई, मुक्ति डूंगर चढ़ आया।
कर्म कठिन दल मोह जीत के, परिसह झंडा उड़ाया।।

निरुपद्रव निज तनपुर ठाणे, रजवट केवल पाया।
एम रुचि मुनि शुभ ध्यान प्रमोदे, मुक्ति निशाण धुराया।।

निश्छल-गुणग्राही प्रमोदरुचिजी ने अपने "विनतिपत्र" में अन्य मुनियों के साथ अपने गुरु-भाई एवं सहपाठी श्री धनमुनि को साधुगुण-रूपी रथारूढ़ श्रीमद् के कुशल सारथी के विरद से अलंकृत किया है। उनकी यह उपमा इसलिए भी बड़ी सटीक और सार्थक है क्योंकि जिस तरह महान शूरवीर योद्धा गौरवपूर्ण पार्थ के सारथी श्यामवर्ण कृष्ण थे, ठीक उसी प्रकार श्रीमद् राजेन्द्रसूरि गौरवर्ण थे और धनमुनि श्यामवर्ण थे। दोनों ही अपने समय के वाग्मी शास्त्र-वेत्ता थे। श्रीमद् राजेन्द्रसूरि ज्ञान-गम्भीर, अध्यात्म और आगम-निगम के अखूट भण्डार थे, और धनमुनि काव्य, अलंकार, छन्द, आगम और तर्क के सर्वोपरि ज्ञाता

थे। अपने समकालीन पाखण्ड को परास्त करने में दोनों मुनियों को उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई थी। रूपक इस प्रकार है—

भुजंगप्रयात

'मुनिनाथ साथे, सहु साधु सारे। मुनि धन्न धोरी, विजय रत्न धारे।।
गुणानन्द सेवे, बड़ा विज्ञ भारी। रहे हाजरे गुप्त भक्ति सुधारी।।
गिरा भारती कण्ठ, आभरण सोहे। बनी शान्त मुद्रा, जगे कोई मोहे।।
शशि सौम्य कान्ति, निरालम्ब भासे। प्रतिबन्ध नाहीं, ज्युंही वायु वासे।।
जयो पुन्यवंता गुरुभक्ति कारी। रहे रात-दिवसे वपुबिम्ब धारी।।
मुनि सेवना पार नावे कहंता। हुवे पुन्य भोगे सिहु का महंता।।

कविवर ने जहाँ एक ओर श्रीमद् की सेवा में संलग्न अपने सहचारी मुनियों को वड़भागी कहा है, उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है, वहीं दूसरी ओर उन्होंने वनदीक्षित बालमुनि श्री मोहनविजयजी को आशीर्वादात्मक उद्बोधन किया है। उन्हें सम्बोधित करते हुए रुचिजी कहते हैं: "बचपन में ही तुमने मोह का नाश कर उस पर विजय प्राप्त कर ली और मोहन विजय बने। श्रीमद् श्रीहजूर की हाजरी में अहर्निश शास्त्राभ्यास किये जाओ। सबके प्रीतिपात्र बनो। जो विषय समझ में न आवे, उसे अवश्य पूछो ...।" मुनि-परिवार के प्रति धर्म-स्नेह की परोपकारी कामना कविवर में सुसम्पन्न हुई थी, वरिष्ठता अथवा ज्ञान-गरिमा का अहंकार उन्हें किंचित् भी न था। इस प्रसंग में उन्होंने लिखा है—

'लघु शिष्य सोहे दिसे मोह नाशी। तज्यो मोह बालापनाथी।।
विरोनि विमला वान लागे कहुने। भणो शास्त्र वांचो गुणी हो वहुने।।
मुनिन्यास रासो दिवाराता मांही। समापूर्ण माध्र, दिने स्वच्छ ग्राही।।
हजूरे हाजरे रहो पुछताजे। रहो अच्छ अच्छे सदा सत्य गाजे।।

आज से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व कविवर श्री प्रमोदरुचि ने अपने इस "विनतिपत्र" का उपसंहार इन पंक्तियों से किया था—

'संवत् उगणिस छत्तिस साल। कार्तिक कृष्ण त्रयोदशि माल।।
दीपोच्छव सहु घर-घर करे। तिम मुनिगण तम तापिक हरे।।
अल्पमति बुध हास सुठाण। गुरु गण भक्ति लहि दिल आण।।
वावन मंगल करि भई वृद्धि। उत्तम जन कर लेहु समृद्धि।।
पत्रकमल जलविन्दु ठेराय। अमल अनोपम अमित देखाय।।
परिमल दह दिशि पसरे लोक। संत पुरुष इम होवे थोक।।
"विनति" जो सुणे चित्त लगाय। निकट भवी समदृष्टि थाय।।
रुचि प्रमोद गावै भणै। सुणतां श्रवणे पातिक हणै।।

जव श्रीमद् १८८१ ई. में मालवा आये तव कविवर ने उनके दर्शन किये और उसी वर्ष विक्रम संवत् १९३८, आषाढ शुक्ल १४ को उनका देहावसान हो गया। □

अभिधान राजेन्द्र : तथ्य और प्रशस्ति

□ मुनि जयप्रभविजय

तथ्य (समग्र)

ग्रन्थनाम : अभिधान राजेन्द्र; **ग्रन्थकर्त्ता** : श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वर (१८२७ई.–१९०६ ई.); **प्रकाशक** : श्री अभिधान राजेन्द्र प्रचारक सभा, रतलाम (मालवा); **आकार** : सुपर रॉयल ½; २५ सेंटीमीटर × ३५ सेंटीमीटर; **टाइप** : १६ पाइण्ट ग्रेट नं. १ तथा १२ पाइण्ट पैका नं. १; **भाग** : सात ; **कुल पृष्ठसंख्या** : ९,२००; **मुद्रणालय**: जैन प्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम ; **मुद्रण-काल** : १९१० ई.–१९३४ ई.; **ग्रन्थसंशोधक** : मुनि श्रीदीपविजयजी, श्रीयतीन्द्र विजयजी; **भाषाएँ** : मागधी, प्राकृत, संस्कृत; **संपादन आरंभ होने का स्थान और तिथि** : सियाणा (राजस्थान), विक्रम संवत् १९१६, आश्विन शुक्ला २; **समापन का स्थान और तिथि** : सूरत (गुजरात), विक्रम संवत् १९६०, चैत्र शुक्ला १३; **संदर्भ ग्रन्थ-संख्या** : ९७; **कुल व्याख्यायित शब्दों की संख्या** : ६०,००० ।

तथ्य (भागशः)

भाग	प्रकाशन-वर्ष	पृष्ठ-संख्या	व्याख्यायित शब्दक्रमें
*प्रथम	१९१३ ई.	१४४ + ८९३	अ – अहोहिय
द्वितीय	१९१० ई.	११८७	आ – ऊहापन्नत
तृतीय	१९१४ ई.	१३६३ + १	ए – छोह
चतुर्थ	१९१३ ई.	१४०४	ज – नोमालिया
पंचम	१९२१ ई.	१६२७	प – भोल
षष्ठम	१९३४ ई.	१४६८	म – व्रासु
सप्तम	१९३४ ई.	१२५२	श – ह्व

* प्रथम भाग में शब्द-व्याख्याओं के अतिरिक्त आरंभ में ग्रन्थकर्ता-परिचय, सौधर्म-बृहत्तपागच्छीय पट्टावली, प्रस्तावना, प्रमाण-ग्रन्थ-सूची, प्रत्येक खण्ड के कतिपय शब्दों के उपयोगी विषयों का आकलन, शब्दसूची (अ–क), उपोद्घात (संशोधकों द्वारा), परिशिष्ट (सिद्धहेमशब्दानुशासन, प्राकृतसूत्र, संक्षिप्त प्राकृतशब्दरूपावलिः) दिये गये हैं।

प्रशस्ति

"यह विश्वकोश एवं संदर्भ-ग्रन्थ भी संस्कृत तथा जैन प्राकृत के अध्ययन के निमित्त अतीव मूल्यवान है।"

—जार्ज ए. ग्रियर्सन

'अभिधान-राजेन्द्र' के पास बारंबार जाना स्वाध्याय के अनन्तर मैं यह कह सकता हूँ कि प्राच्यविद्या का कोई जिज्ञासु इस आश्चर्यजनक ग्रन्थ की अनदेखी नहीं कर सकता। अपने विशेष क्षेत्र में इसने कोशविद्या के महान् पीटर्सबर्ग कोश को भी अतिक्रान्त किया है। इस कोश में प्रमाण और उद्धरणों से पुष्ट न केवल सारे शब्द ही आकलित हैं अपितु शब्दों से परे जो विचार, विश्वास, अनुभूतियाँ हैं उनका सर्वेक्षण भी इसमें है। मुझे जब भी कुछ निर्धारण करना होता है, मैं 'अभिधान-राजेन्द्र' के अवलोकन से उसका शुभारंभ करता हूँ; और कभी भी ऐसा नहीं हुआ कि इससे मुझे कोई उपयोगी जानकारी न मिली हो। क्या हिन्दू और बौद्ध धर्मों के क्षेत्र में इसके समानान्तर कभी कुछ हो सकेगा?

—प्रो. सिल्वेन लेवी

"मैं स्वर्गीय राजेन्द्रसूरिजी की समस्त कृतियों की प्रशंसा करता हूँ, विशेषतः उनकी कोशक्षेत्रीय उपलब्धि 'अभिधान राजेन्द्र' कोश की।"

—आर. एल. टर्नर

"मेरी राय में 'अभिधान-राजेन्द्र' एक विशाल ग्रन्थ है जो भारतीय उद्यम और विद्वत्ता का मस्तक ऊँचा करता है। ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता है उसकी सुसमृद्ध संदर्भ-सामग्री, जिससे संसार अब तक सर्वथा अनभिज्ञ था।"

—प्रो. सिद्धेश्वर वर्मा

"श्री राजेन्द्रसूरिजी का जीवन सत्यान्वेषण तथा तपश्चर्या का एक महान् उदाहरण है।"

—डॉ. सर्वपल्लि राधाकृष्णन

"मैं पुरजोर कह सकता हूँ कि जैन शोध के क्षेत्र में कोई भी अनुसन्धानकर्त्ता सूरिजी के अतीव मूल्यवान कोश 'अभिधान-राजेन्द्र' की अनदेखी नहीं कर सकता। विगत दशकों के शोध और संपादन के कार्य को मैं धन्यवाद दूंगा; किन्तु जैन शीर्षकों को लेकर कहीं कोई इतना बड़ा कोश है इसकी जानकारी मुझे नहीं है। मैंने जब भी 'अभिधान-राजेन्द्र' का अवलोकन किया है, आत्मतुष्ट हुआ हूँ। वास्तव में यह कोश उस महान् और प्रिय विद्वान् की स्मृति की रक्षा करने वाला स्मारक है।"

—वाल्थर शुब्रिंग

"निःसंदेह श्रीराजेन्द्रसूरिजी एक महान् साधु और विश्वविश्रुत विद्वान् थे। उनका 'अभिधान-राजेन्द्र' उनकी विद्वत्ता का और उनकी गतिशील साहित्यिक गतिविधि का स्थायी स्मारक है।"
—पी. के. गोडा

"मेरे धर्ममित्र श्री प्राग्वाटस्वामी के पास 'अभिधान-राजेन्द्र' के विशद सात भाग देखकर भारतीय ज्ञान-गाम्भीर्य के विद्योदधि श्रीराजेन्द्रसूरि की इस चमत्कार-पूर्ण अद्वितीय सृजन-क्षमता के प्रति सहज ही नतमस्तक हो गया हूँ।"
—चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

"कोश के विभिन्न भागों के विहंगावलोकन मात्र से पाठक को जैनधर्म और दर्शन के अपरिहार्य तथ्यों की जानकारी हो जाती है। जब हम यह कहते हैं कि कोश के इन भागों में साढ़े चार लाख श्लोकों और सूत्रों की उद्धरणी हुई है तो हमें इसकी विशालता का सहज ही बोध होता है। कोश में ६०,००० शब्द व्याख्यायित हैं।"
—के. ए. धरणेन्द्रैया

"'अभिधान-राजेन्द्र' महान् कोश के प्रणेता श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी ने स्वयं ही अपना मार्ग प्रशस्त किया और वे दूसरों के लिए पथ-प्रदर्शक बने। उनका चारित्रिक बल, उनकी विद्वत्ता और निर्भीकता सराहनीय है। उनके विरचित ग्रन्थ उनके सच्चे स्मारक हैं।"
—गुलाबराय, एम. ए.

"जब विद्यालयों में अच्छे अध्ययन-अध्यापन के लिए गोमट्टसार-जैसे पारिभाषिक लाक्षणिक ग्रन्थों को चुना जाता है, तब इस प्रकार के कोशों की आवश्यकता अधिक अनुभव होती है। बहुतेरे जैन पारिभाषिक शब्दों के उद्धरण तथा व्याख्याओं को खोजने में रतलाम से सात भागों में प्रकाशित विजयराजेन्द्रसूरि का 'अभिधान-राजेन्द्र' कोश उपयोगी सिद्ध हुआ है, यद्यपि इसका विस्तार बहुत है।"
—डॉ. हीरालाल जैन

"'राजेन्द्र कोश' एक अक्षय्य निधि है। संसार का एक अनुपम तथा अनूठा साहित्यिक ग्रन्थ है। जैनधर्म या दर्शन विषयक किसी भी अनुसन्धान के निमित्त 'अभिधान-राजेन्द्र' एक अपरिहार्यता है।"
—भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति तथा चारुकीर्ति

"आचार्य प्रवर श्रीमद्राजेन्द्रसूरिजी ने अभिधान-राजेन्द्र नामक महाकोश का निर्माण कर जैन प्रजा के ऊपर ही नहीं, समग्र विद्वज्जगत् पर महान् अनुग्रह किया है। ऐसी महर्द्धिक कृति का निर्माण कर उन्होंने विद्वत्संसार को प्रभावित एवं

चमत्कृत किया है। 'अभिधान राजेन्द्र' की रचना के पश्चात् स्थानकवासी मुनिवर श्रीरत्नचन्द्रजी ने 'जिनागम शब्दकोश' आदि कोश, आगमोद्धारक आचार्य श्री सागरानन्दसूरि ने अल्प परिचित सैद्धान्तिक शब्दकोश, पं. हरगोविन्ददास ने 'पाइअसद्द-महण्णवो' आदि प्राकृत भाषा के शब्दकोश तैयार किये हैं, किन्तु इन सबकी कोश-निर्माण की भावना के बीजरूप आदि कारण तो श्रीमद्राजेन्द्रसूरि एवं उनका निर्मित अभिधान-राजेन्द्र कोश ही है।"

—मुनि पुण्यविजय

"आचार्य राजेन्द्रसूरिजी उन महापुरुषों में से हैं जिनका जीवन ज्ञान की अखण्ड उपासना में लीन था। चारित्र के साथ ज्ञानबल बहुत तेजस्वी था। अपने जीवन में उन्होंने लगभग ६१ ग्रन्थों की रचना की। उनकी ज्ञानोपासना विविध क्षेत्रों में गतिमान रही है। जन-साधारण-हित उन्होंने बहुतेरे ग्रन्थों की रचना लोक मालवी, गुजराती और राजस्थानी भाषाओं में की। पद्यबद्ध रास आदि बनाये और गद्य में वालावबोध आदि टीकाएँ कीं। संस्कृत-प्राकृत में भी कई ग्रन्थ व स्तोत्र बनाये। प्राकृत-संस्कृत आदि भाषाओं का और व्याकरण-शब्दशास्त्र व सिद्धान्त आदि अनेक विषयों का उनका ज्ञान अधिक गंभीर था। तभी तो वे 'अभिधान-राजेन्द्र' जैसे महान् ग्रन्थ का निर्माण कर पाये, जो उन्हें अमर बनाने के लिए पर्याप्त है।"

—अगरचन्द नाहटा

"यदि कोई मुझसे पूछे कि जैन साहित्य के क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी की असाधारण घटना कौन-सी है ? तो मेरा उत्तर 'अभिधान-राजेन्द्र' ही होगा। ऐसी महा परिश्रमसाध्य एवं महा अर्थसाध्य यह रचना है। श्रीमद् की यह महान् कृति संप्रति आन्तर प्रान्तीय ही नहीं आन्तर राष्ट्रीय ग्रन्थागारों को सुशोभित किये हुए है। एक ही विषय अधिकाधिक आगमिक किंवा शास्त्रीय प्रामाणिक विवरणों को अनेक स्वरूप में सरलता एवं शीघ्रता से उपलब्ध करना चाहें तो 'अभिधान-राजेन्द्र' द्वारा तत्काल प्राप्त किये जा सकते हैं।

—मुनि यशोविजय

'अभिधान-राजेन्द्र' कोश की रचना कर श्रीमद् ने न केवल जैन समाज का ही महान् उपकार किया वलिक विश्वभर को उनकी यह साहित्यिक अनुपम देन है। जैन-जैनेतर सभी विद्वन्मण्डल इस बृहद् कोश-संपुट के सातों भागों से निरन्तर उपकृत है और होता रहेगा। इस ग्रन्थ-संपुट के अध्ययन से संपूर्ण जैन आगमों का सम्यग्ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है; अतः प्रचलित सभी जैन कोश-ग्रन्थों में यह अग्रस्थान का अधिकारी है।"

—कवि जयन्त मुनि

"यह एक सुखद संवाद है कि श्रीयुत् विजयराजेन्द्रसूरिजी ने अनेक वर्षो के परिश्रम से महान् कोश 'अभिधान-राजेन्द्र' का निर्माण किया है, जो महत्त्वपूर्ण है और अत्यन्त विशाल है।

—'आनन्द' मासिक; १९०७ ई.

"अभिधान-राजेन्द्र कोश' लगभग हजार पृष्ठ के प्रत्येक ऐसे सात भागों में प्रकाशित है, जिसमें अकारादिक्रम में प्राकृत शब्दों के संस्कृत अर्थ-व्युत्पत्ति-लिंग और अर्थ जैनागम व अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध सभी के विभिन्न संदर्भो की सामग्री से युक्त इस ग्रन्थराज को प्रामाणिक करने का महाभारत प्रयत्न किया गया है। जैनागमों का कोई ऐसा विषय नहीं है, जो इस कोश में प्राप्त न हो।"

—'जैन साहित्य नो इतिहास'

"अभिधान-राजेन्द्र' विश्वकोश में प्रत्येक प्राकृत शब्द का संस्कृत रूप, संस्कृत में विवरण, मूल ग्रन्थ में प्रयुक्ति का निर्देश तथा अन्य ग्रन्थों में विभिन्न अर्थो में प्रयुक्त प्रत्येक के अवतरणों की विविध विश्लेषणयुक्त विवेचन किया गया है। प्रस्तावना में श्रीहेमचन्द्रसूरि के प्राकृत व्याकरण पर श्रीमद्राजेन्द्रसूरि निर्मित टीका सहित 'प्राकृत व्याकृति' रखी गयी है। प्रायः सभी नामों के रूपाख्यानों का भी इसमें समावेश किया गया है; फिर भले ही साहित्य में वे उपलब्ध न भी हों, उदाहरणार्थ पंचमी एकवचन में 'युष्मद्' के पचास रूप दिये गये हैं, जबकि अर्द्ध-मागधी-मागधी साहित्य में कदाचित् ही कोई इन रूपों में से पाया जाता हो। इस विश्वकोश में जैन सिद्धान्त के प्रत्येक विषय के बारे में जो भी मूल ग्रन्थ या टीकाओं में उपलब्ध है वह सभी समाविष्ट है।

—'अर्द्धमागधी कोश', प्रथमभाग, प्रस्तावना

(पृष्ठ ४८ का शेष)

नवोपलब्ध

कल्पसूत्र
१८८१; मालवी; मुनि देवेन्द्रविजय के पास उपलब्ध

गणधरवाद
१८९६; संस्कृत; मुनि देवेन्द्रविजय के पास उपलब्ध

स्वगच्छाचार प्रकीर्ण
१८७९; मालवी-मारवाड़ी; मुनि देवेन्द्रविजय के पास उपलब्ध

सम्बन्धित

जीवन प्रभा (राजेन्द्र-जीवन-चरित्र)
यतीन्द्रसूरीश्वर, १९७०

त्यागमूर्ति (काव्य)
मिश्रीलाल जैन, १९६७

राजेन्द्र (काव्य)
विद्याविजयजी, १९५३

राजेन्द्र कोष में 'अ'
मुनि जयन्तविजय 'मधुकर', १९७३

राजेन्द्र गुणमञ्जरी
मुनि गुलाब विजयोपाध्याय, १९३९

राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ
(अर्धजन्म-शताब्दी-महोत्सव पर प्रकाशित), १९५७

संकेत—१. अ. रा. को-१, परि-पृ. (अभिधान राजेन्द्र कोष भाग १ परिचय-पृष्ठ),
२. रा. स्मा. ग्रं. (श्रीमद्राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ);
३. ग्रन्थों का रचना-काल ईस्वी सन् में दिया गया है। □

॥ भट्टारक श्रीराजेन्द्रसूरिकृता श्रीकल्पसूत्रस्य बालावबोधिनी वार्त्ता ॥ एक अध्ययन ॥ नेमीचन्द जैन ॥

मध्यकाल में संस्कृत, प्राकृत और मागधी में लिखे ग्रन्थों की सरल टीकाएँ लिखने की परम्परा रही। इसके कई स्पष्ट कारण थे। लोग इन भाषाओं को भूलने लगे थे और जीवन की अस्तव्यस्तता के कारण उनसे सहज सांस्कृतिक सम्पर्क टूट गया था; अतः सहज ही ये भाषाएँ विद्वद्भोग्य रह गयीं और सामान्य व्यक्ति इनके रसावबोध से वंचित रहने लगा । वह इन्हें सुनता था, भक्ति-विभोर और श्रद्धाभिभूत होकर, किन्तु उसके मन पर अर्थबोध की कठिनाई के कारण कोई विशेष प्रभाव नही होता था। 'कल्पसूत्र' की भी यही स्थिति थी।

मूलतः कल्पसूत्र श्रीभद्रबाहुसूरि द्वारा १२१६ श्लोकों में मागधी में लिखा गया है (प्र. पृ. ५)। तदनन्तर समय-समय पर इसकी कई टीकाएँ हुई, जिनमें पण्डित श्रीज्ञानविमलसूरि की भाषा टीका सुबोध और सुगम मानी जाती थी, यह लोकप्रिय भी थी और विशेष अवसरों पर प्रायः इसे ही पढ़ा जाता था। जब श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरि से 'कल्पसूत्र' की बालावबोध टीका करने का निवेदन किया गया तब उन्होंने यही कहा था कि पण्डित ज्ञानविमलसूरि की आठ ढालवाली टीका है अतः अब इसे और सुगम करने की आवश्यकता नहीं है; इस पर श्रीसंघ की ओर से आये हुए लोगों ने कहा : "श्रीपूज्य, इस ग्रन्थ में थविरावली तथा साधु-समाचारी नहीं है अतः एक व्याख्यान कम है तथा अन्य बातें भी संक्षेप में कही गयी हैं अतः यह ग्रन्थ अधूरा है। कहा भी है कि 'जो ज्ञान अधूरा है, वह ज्ञान नहीं है; जो आधा पढ़ा है, वह पढ़ा हुआ नहीं है; अधूरी रसोई, रसोई नहीं है; अधूरा वृक्ष फलता नहीं है; अधूरे फल में पके हुए फल की भाँति स्वाद नहीं होता, इसलिए सम्पूर्णता चाहिये।' आप महापुरुष हैं, परम उपकारी हैं अतः श्रीसंघ पर कृपादृष्टि करके हम लोगों की अर्जी कबूल कीजिये।" (प्र. पृ. ६)। इसे सुनकर श्रीमद् ने श्रावकों के माध्यम से ४–५ ग्रन्थागारों में से काफी प्राचीन लिखित चूर्णि, निर्युक्ति, टीकादि की दो-चार शुद्ध प्रतियाँ प्राप्त कीं और 'कल्पसूत्र'

की बालावबोध टीका का सूत्रपात किया। इसके तैयार होते ही कई श्रावकों ने मूल प्रति पर से कुछ प्रतियाँ तैयार कीं किन्तु पांच-पचास से अधिक नहीं की जा सकीं। लिपिकों (लेहियों) की कमी थी और एक प्रति ५०–६० रुपयों से कम में नहीं पड़ती थी अतः संकल्प किया गया कि इसे छपाया जाए (पृ. ६)।

इस तरह 'कल्पसूत्र' की बालावबोध टीका अस्तित्व में आयी। टीका रोचक है, और धार्मिक विवरणों के साथ ही अपने समकालीन लोकजीवन का भी अच्छा चित्रण करती है। इसके द्वारा उस समय के भाषा-रूप, लोकाचार, लोक-चिन्तन इत्यादि का पता लगता है। सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें भी श्रीमद् राजेन्द्रसूरि के क्रान्तिनिष्ठ व्यक्तित्व की झलक मिलती है। वस्तुतः यदि श्रीमद् हिन्दी के कोई सन्त कवि होते तो वे कबीर से कम दर्जे के बागी नहीं होते। कहा जा सकता है जो काम कबीर ने एक व्यापक पटल पर किया, करीब-करीब वैसा ही कार्य श्रीमद् ने एक छोटे क्षेत्र में अधिक सूझबूझ के साथ किया। कबीर की क्रान्ति में बिखराव था किन्तु श्रीमद् की क्रान्ति का एक स्पष्ट लक्ष्य-बिन्दु था। उन्होंने मात्र यति-संस्था को ही नहीं आम आदमी को भी क्रान्ति के सिंहद्वार पर ला खड़ा किया। मात्र श्रीमद् ही नहीं उन दिनों के अन्य जैन साधु भी क्रान्ति की प्रभाती गा रहे थे। 'कल्पसूत्र' की बालावबोध टीका के लिखे जाने के दो साल बाद संवत् १९४२ में सियाणा में श्रीकीर्तिचन्द्रजी महाराज तथा श्रीकेशर विजयजी महाराज आये। दोनों ही शुद्ध चरित्र के साधु थे। उन्होंने सियाणा में

क. सू. बा. टी. चित्र ५४

'भो तपसी यह काठ न चीर, यामें जुगल नाग हैं वीर।'

—पार्श्वनाथ; भूधर; ७।६१

ही वर्षावास किया। अकस्मात् कोई ऐसा प्रसंग आया कि बागरा-निवासी किसी विवाद को लेकर सियाणा आये। यह एक अच्छा अवसर उपस्थित हुआ। इस समय जैन लोग तो एकत्रित हुए ही कई अ य जातियों के बन्धु-बान्धव भी वहाँ उपस्थित हुए। कल्पसूत्र' की प्रस्तावना में एक स्थान पर लिखा है : "तेमां वली ते वखतमां विशेष आश्चर्य उत्पन्न करनारी आ वात बनी के ते गामना रेहवासी क्षत्री, चौधरी, घांची, कुंभारादि अनेक प्रकारना अन्य दर्शनीऊ तेमां वली यवन लोको अने ते ग मना टाकोर सहित पण साथे मली सम्यक्त्वादि व्रत धारण करवा मंडी गया।" इससे इस तथ्य का पता चलता है कि जैन साधु का जनता-जनार्दन से सीधा सम्पर्क था और उन्हें लोग श्रद्धा-भक्ति से देखते थे। अन्य जातियों के लोगों का एकत्रित होना और वध-निमित्त लाये गये पशुओं को छोड़ना तथा अहिंसा व्रत को धारण करना कुछ ऐसी ही घटनाएँ हैं, जो आज से लगभग नव्वे वर्ष पूर्व घटित हुई थीं। यह जमाना ऐसा था जब सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से काफी उथल-पुथल थी और लोग घबराये हुए थे। सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक ढकोसलों के शिकंजे में लोग काफी संत्रस्त थे। ऐसे समय में ज्ञान का सन्देश-वाहक 'कल्पसूत्र' और पर्युषण में उसका वाचन बड़ा क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ। श्रीमद् की इस टीका में कथाएँ तो हैं ही उसके साथ ही विचार भी हैं, ऐसे विचार जो जीवन को जड़-मूल से बदल डालने का सामर्थ्य रखते हैं।

आरम्भ से ही श्रीमद् का बल स्वाध्याय पर था। यति-क्रान्ति के 'कलमनामे" में नवीं कलम स्वाध्याय से ही सम्बन्धित है। उन्होंने सदैव यही चाहा कि जैन साधु-साध्वियाँ और श्रावक-श्राविकाएँ स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त हों अतः विद्वानों के लिए तो उन्होंने "अभिधान-राजेन्द्र" कोश तथा "पाइयसद्दंबुहि" जैसी कृतियों की रचना की और श्रावक-श्राविकाओं के लिए 'कल्पसूत्र' की बालावबोध टीका जैसी सरल किन्तु क्रान्तिकारी कृतियाँ लिखीं। ज्ञान के एक प्रबल पक्षधर के रूप में उन्होंने कहा : "एमज केटलाएक विवाहादिकमां वरराजाने पहेरवा माटे कोइ मगावा आवशे तो जरूर आपवा पडशे। एवो संकल्प करीने नवनवा प्रकारना सोना रूपा हीरा मोती आदिकाना आभूषणो घडावी राखे छे, तथा वस्त्रोना वागा सिवरावी राखे छे, तेम कोइने भणवा वांचवाने माटे ज्ञानना भंडारा करी राखवामां शुं हरकत आवी नडे छे? पण एवी बुद्धि तो भाग्येच आवे।" (प्र.पृ. १५)। उक्त अंश का अंतिम वाक्य एक चुनौती है। श्रीमद् ने इन अप्रमत्त चुनौतियों के पालनों में ही क्रान्ति-शिशु का लालन-पालन किया। उन्होंने पंगतों में होने वाले व्यर्थ के व्यय का भी विरोध किया और लोगों को ज्ञानोपकरणों को सञ्चित करने तथा अन्यों को वितरण करने की दिशा में प्रवृत्त किया; इसीलिए धार्मिक रूढ़ियों के उस युग में 'कल्पसूत्र' के छापे जाने की पहल स्वयं में ही एक बड़ा विद्रोह और क्रान्तिकारी कदम था। इसे छापकर तत्कालीन जैन समाज ने, न केवल अभूतपूर्व

की बालावबोध टीका का सूत्रपात किया। इसके तैयार होते ही कई श्रावकों ने मूल प्रति पर से कुछ प्रतियाँ तैयार कीं किन्तु पांच-पचास से अधिक नहीं की जा सकीं। लिपिकों (लेहियों) की कमी थी और एक प्रति ५०–६० रुपयों से कम में नहीं पड़ती थी अतः संकल्प किया गया कि इसे छपाया जाए (पृ. ६)।

इस तरह 'कल्पसूत्र' की बालावबोध टीका अस्तित्व में आयी। टीका रोचक है, और धार्मिक विवरणों के साथ ही अपने समकालीन लोकजीवन का भी अच्छा चित्रण करती है। इसके द्वारा उस समय के भाषा-रूप, लोकाचार, लोक-चिन्तन इत्यादि का पता लगता है। सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें भी श्रीमद् राजेन्द्रसूरि के क्रान्तिनिष्ठ व्यक्तित्व की झलक मिलती है। वस्तुतः यदि श्रीमद् हिन्दी के कोई सन्त कवि होते तो वे कबीर से कम दर्जे के बागी नहीं होते। कहा जा सकता है जो काम कबीर ने एक व्यापक पटल पर किया, करीब-करीब वैसा ही कार्य श्रीमद् ने एक छोटे क्षेत्र में अधिक सूझबूझ के साथ किया। कबीर की क्रान्ति में बिखराव था किन्तु श्रीमद् की क्रान्ति का एक स्पष्ट लक्ष्य-बिन्दु था। उन्होंने मात्र यति-संस्था को ही नहीं आम आदमी को भी क्रान्ति के सिंहद्वार पर ला खड़ा किया। मात्र श्रीमद् ही नहीं उन दिनों के अन्य जैन साधु भी क्रान्ति की प्रभाती गा रहे थे। 'कल्पसूत्र' की बालावबोध टीका के लिखे जाने के दो साल बाद संवत् १९४२ में सियाणा में श्रीकीर्तिचन्द्रजी महाराज तथा श्रीकेशर विजयजी महाराज आये। दोनों ही शुद्ध चरित्र के साधु थे। उन्होंने सियाणा में

क. सू. बा. टी. चित्र ५४

'भो तपसी यह काठ न चीर, यामें जुगल नाग हैं वीर।'

—पार्श्वनाथ; भूधर; ७।६१

ही वर्षावास किया। अकस्मात् कोई ऐसा प्रसंग आया कि आगरा-निवासी किसी विवाद को लेकर सियाणा आये। यह एक अच्छा अवसर उपस्थित हुआ। उस समय जैन लोग तो एकत्रित हुए ही कई अ य जातियों के बन्धु-बान्धव भी वहाँ उपस्थित हुए। 'कल्पसूत्र' की प्रस्तावना में एक स्थान पर लिखा है : "तेमां वली ते वखतमां विशेष आश्चर्य उत्पन्न करनारी आ वात बनी के ते गामना रेहवासी माली, चौधरी, घांची, कुंभारादि अनेक प्रकारना अन्य दर्शनीओ तेमां वली यवन लोको अने ते गामना ठाकोर सहित पण साथे मली सम्यक्त्वादि व्रत धारण करवा मंडी गया।" इससे इस तथ्य का पता चलता है कि जैन साधु का जनता-जनार्दन से सीधा सम्पर्क था और उन्हें लोग श्रद्धा-भक्ति से देखते थे। अन्य जातियों के लोगों का एकत्रित होना और वध-निमित्त लाये गये पशुओं को छोड़ना तथा अहिंसा व्रत को धारण करना कुछ ऐसी ही घटनाएँ हैं, जो आज से लगभग सदी भर पूर्व घटित हुई थीं। यह जमाना ऐसा था जब सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से काफी उथल-पुथल थी और लोग घबराये हुए थे। सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक ढकोसलों के शिकंजे में लोग काफी संत्रस्त थे। ऐसे समय में ज्ञान का सन्देश-वाहक 'कल्पसूत्र' और पर्युषण में उसका वाचन बड़ा क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ। श्रीमद् की इस टीका में कथाएँ तो हैं ही उसके साथ ही विचार भी हैं, ऐसे विचार जो जीवन को जड़-मूल से बदल डालने का सामर्थ्य रखते हैं।

आरम्भ से ही श्रीमद् का बल स्वाध्याय पर था। यति-क्रान्ति के 'कलमनामे' में नवीं कलम स्वाध्याय से ही सम्बन्धित है। उन्होंने सदैव यही चाहा कि जैन साधु-साध्वियाँ और श्रावक-श्राविकाएँ स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त हों अतः विद्वानों के लिए तो उन्होंने "अभिधान-राजेन्द्र" कोश तथा "पाइयसद्दंबुहि" जैसी कृतियों की रचना की और श्रावक-श्राविकाओं के लिए 'कल्पसूत्र' की बालावबोध टीका जैसी सरल किन्तु क्रान्तिकारी कृतियाँ लिखीं। ज्ञान के एक प्रबल पक्षधर के रूप में उन्होंने कहा : "एमज केटलाएक विवाहादिकमां वरराजाने पहेरवा माटे कोइ मगावा आवशे तो जरूर आपवा पडशे। एवो संकल्प करीने नवनवा प्रकारना सोना रूपा हीरा मोती आदिकाना आभूषणो घडावी राखे छे, तथा वस्त्रोना वागा सिवरावी राखे छे, तेम कोइने भणवा वांचवाने माटे ज्ञानना भंडारा करी राखवामां शुं हरकत आवी नडे छे? पण एवी बुद्धि तो भाग्येच आवे।" (प्र. पृ. १५)। उक्त अंश का अंतिम वाक्य एक चुनौती है। श्रीमद् ने इन अप्रमत्त चुनौतियों के पालनों में ही क्रान्ति-शिशु का लालन-पालन किया। उन्होंने पंगतों में होने वाले व्यर्थ के व्यय का भी विरोध किया और लोगों को ज्ञानोपकरणों को सञ्चित करने तथा अन्यों को वितरण करने की दिशा में प्रवृत्त किया; इसीलिए धार्मिक रूढ़ियों के उस युग में 'कल्पसूत्र' के छापे जाने की पहल स्वयं में ही एक बड़ा विद्रोही और क्रान्तिकारी कदम था। इसे छापकर तत्कालीन जैन समाज ने, न केवल अभूतपूर्व

साहस का परिचय दिया वरन् आने वाली पीढ़ियों के लिए आधुनिकता के द्वार भी खोल दिये।

क. सू. बा. टी. चित्र ६६

'दिव्य भव्य थी बनी बरात नेमिराज की
जा रही नरेन्द्र उग्रसेन सद्म पास में।

—श्री शिवानन्दन काव्य; विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी; सर्ग ६; पृ. २४

सभी जानते हैं "पर्युषण" जैनों का एक सर्वमान्य धर्म-पर्व है। इसे प्रायः सभी जैन सम्प्रदाय बड़ी श्रद्धाभक्तिपूर्वक मनाते हैं। पर्युषण के दिनों में दिगम्बरों में "मोक्षशास्त्र" और श्वेताम्बरों में "कल्पसूत्र" के वाचन की परम्परा है। "मोक्षशास्त्र" के दस और "कल्पसूत्र" के आठ वाचन होते हैं। "कल्पसूत्र" की बालावबोध टीका इस दृष्टि से परिवर्तन का एक अच्छा माध्यम साबित हुई। इसमें कई विषयों के साथ कुछेक ऐसे विषय भी हैं जिनका आम आदमी से सीधा सरोकार है। वाचक कैसा हो, वाचन की क्या विधि हो, शास्त्र-विनय का क्या स्वरूप हो; साधु कैसा हो, उसकी संहिता क्या हो, चर्या क्या हो इत्यादि कई विषय 'कल्पसूत्र' में सैद्धान्तिक और कथात्मक दोनों रूपों में आये हैं। असल में 'कल्पसूत्र' की यह टीका एक ऐसी कृति है जिसे उपन्यास की उत्कण्ठा के साथ पढ़ा जा सकता है। इसमें वे सारी विशेषताएँ हैं जो किसी माता में हो सकती हैं। श्रीमद् का मातृत्व इसमें उभर-उभर कर अभिव्यक्त हुआ है। हम इसे क्रान्तिशास्त्र भी यदि कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। कथा के कुछ हिस्सों को छोड़कर यदि हम इसके सिद्धान्त-भाग पर ही ध्यान दें तो यह सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक क्रान्ति का बहुत अच्छा आधार बन सकता है। प्रश्न यह है कि हम इसका उपयोग किस तरह करते हैं?

जयवतस्य, प्रमोदस्य प्रमोदरुक् ॥ ३ ॥ सौधर्मतपागच्छे गच्छे, संति राजेन्द्रसूरयः ॥ तेनेदं कल्प
सूत्रस्य, वार्ता बालावबोधिनी ॥ ४ ॥ रचिता [illegible] ॥ [illegible]
येन, न कृतं तस्य हेतवे ॥६॥ अब्दे [illegible] (१९४०) मासे च सितेतरे ॥ पक्षे तिथौ
द्वितीयायां, मंगले लिखिता त्वियम् ॥७॥ इति श्रीराजेन्द्रसूरिविरचितायां [illegible] बालाव
बोधिनी टीका कल्पसूत्रस्य समाप्ता ॥ श्रीरस्तु, कल्याणमस्तु ॥ संवत् १९४० ना वैशाखसुदि
बीजना दिवसें बालावबोधिनी टीका संपूर्ण थई ॥ जांबुआ नगरे ॥

क. सू. की बा. टी. का अन्तिम पृष्ठ (४४८) : जिसमें उसकी समापन-तिथि तथा स्थान का उल्लेख है; समापन-तिथि : वैशाख सुदी २; संवत् १९४०; स्थान : जांबुवा नगर।

सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य 'कल्पसूत्र' के भाषिक व्यक्तित्व का है। यह मूलतः जांबुवा नगर में संवत् १९३६ में शुरू हुई और वहीं संवत् १९४० में सम्पन्न हुई। जांबुआ नगर की स्थिति बड़ी उपयोगी है। यहाँ गुजरात और मारवाड़ के लोग भी आते-जाते रहते हैं। इस तरह यहाँ एक तरह से त्रिवेणी संगम का सुख मिलता है। मालवा, गुजरात और मारवाड़ तीन आँचलिक संस्कृतियों के संगम ने जांबुआ को भाषा-तीर्थ ही बना दिया है। श्रीमद् के कारण यहाँ आसपास के लोग अधिकाधिक आते रहे। यातायात और संचार के साधनों की कमी के दिनों में लोगों का इस तरह एकत्रित होना और सांस्कृतिक मामलों पर विचार-विमर्श करना एक महत्त्वपूर्ण तथ्य था। यद्यपि श्रीमद् कई भाषाओं के जानकार थे तथापि मागधी, प्राकृत और संस्कृत पर उन्हें विशेष अधिकार था। राजस्थानी वे जन्मजात थे, अतः मारवाड़ी एक तरह से उन्हें जन्मघुटी के रूप में मिली थी, मालवा में उनके खूब भ्रमण हुए, गुजरात से उनके जीवन्त सम्पर्क रहे; और हिन्दुस्तानी से उन दिनों बच पाना किसी के लिए सम्भव था ही नहीं; अतः श्रीमद् प्राचीन भाषाओं के साथ मारवाड़ी, मालवी, गुजराती और हिन्दुस्तानी भी भली-भाँति जानते थे और अपने प्रवचन बहुधा इनके मिले-जुले भाषारूप में ही दिया करते थे। रोचक है यह जानना कि 'कल्पसूत्र' की बालावबोध टीका मूलतः मारवाड़ी, मालवी, गुजराती और हिन्दुस्तानी की सम्मिश्रित भाषा-शैली में लिखी गयी थी। जब इसे शा. भीमसिंह माणक को प्रकाशनार्थ सौंपा गया तब इसका यही रूप था; किन्तु पता नहीं किस भाषिक उन्माद में शा. भीमसिंह माणक ने इसे गुजराती में भाषान्तरित कर डाला और उसी रूप में इसे प्रकाशित करवा दिया। उस समय लोग इस तथ्य की गम्भीरता को नहीं जानते थे; किन्तु बाद में उन्हें अत्यधिक क्षोभ हुआ। सुनते हैं 'कल्पसूत्र' का मूलरूप भी प्रकाशित हुआ था (?) किन्तु या तो वह दुर्लभ है या फिर सम्भवतः वह छपा ही नहीं और शा. भीमसिंह माणक के साथ ही उस पांडुलिपि का अन्त हो गया। टीका के प्रस्तावना-भाग के ११वें पृष्ठ पर, जिसका मूल इस लेख के साथ अन्यत्र छापा जा रहा है, इसके मौलिक और भाषान्तरित रूपों की जानकारी दी गयी है। श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छ के श्रावकों

कल्प० ॥११॥

कलकत्ता हतीज नही तेमज बीजी पण टबामां लखेली प्रतो साथे मेलवतां केटलिक वातो न्यूनाधिक टीकामां आवी माटे बीजी बे त्रण कल्पसूत्रोना टबानी प्रतोनो आधार लइने तेमां छापनार श्रावक भीमसिंह माणेकें वधारो कर्यो तेथी आ ग्रंथ लगभग अगीआर हजार श्लोक संख्या जेटलो थइ गयो. हजी पण थविरावली पटावली वगेरेमां घणी वात वधारे लखवानी हती पण थोडा दिवसना व्याख्यानमां पूर्ण थइ शके नही तेना भयथी पडती मूकी देवी पडी छे; तथा वली श्रीपार्श्वनाथस्वामीना चरित्रमां तेमज बीजे केटलेक स्थानके अन्य प्रतोमां लखेली वातोथी तदन जुदीज रीतें अने अति संक्षेपमां महाराज साहेबे वातो लखी काढाडी हती ते मांहेली घणा स्थले तो फेरवी नाखेली छे, परंतु केटलाएक स्थानकें संशय होवाथी तथा महाराजने कागल लखी खुलाश मगाववाथी घणा दिवस.छपवानुं. काम बंध राखवुं पडे तेम न बनी शकवाथी एमंज रेहेवा दीधी छे. तेमज.छापवाने घणी उतावल हती माटे वधारे शोधन पण थयुं नथी, तथापि जेटलुं बनी शक्युं तेटलुं यत्किंचित् शोधन पण कर्युं छे. वली मारवाड, गुर्जर तथा हिंदुस्थानी मली त्रण भाषायें मिश्रित आ ग्रंथ महाराज साहेबे बनावेलो हतो, परंतु तेमां घणा वांचनार साहेबोने वांचतां कंटालो उपजे कदाचित् कोइने यथार्थ अर्थ न बेसे, तेथी ते भाषा सुधारीने श्रावक शा. भीमसिंह माणकें पणु करी एकज गुर्जर भाषामां लखीने छाप्युं छे. तोपण हजी कोइ कोइ स्थले मारवाडादि देशोनी भाषायें मिश्रित थयेली भाषा रहेली हशे तथा कोइ कोइ वातो पण अपूर्ण रहेली हशे. ते मज पुनरुक्ति पण घणा स्थानकें टीकामां आवशे ते सर्व वांचनार सज्जनोयें सुधारी वांचवुं.

प्रस्ताव० ॥११॥

भट्टारक श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर कृत कल्पसूत्र की बालावबोध टीका (वैशाख कृष्णा २, संवत् १९४०; सन् १८८३) का ११वाँ पृष्ठ, जिसकी १२, १३, १४ और १५ वीं पंक्तियों में इस तथ्य का उल्लेख है कि उक्त टीका मूलत: मारवाड़ी, गुजराती और हिन्दुस्तानी के मिले-जुले किसी भाषारूप में लिखी गयी थी किन्तु जिसे श्रावक शा. भीमसिंह माणक ने गुर्जरी में लिखकर नागरी लिपि में छपवा डाला। इतना होने पर भी मारवाड़ी आदि देशी भाषाओं का प्रभाव इसमें यत्र-तत्र स्पष्ट दिखायी देता है।

को इस प्रति का पता लगाना चाहिये और उसे व्यवस्थित सम्पादन और पाठालोचन के बाद प्रकाश में लाना चाहिये। इससे उस समय के भाषारूप पर तो प्रकाश पड़ेगा ही साथ में श्रीमद् के भाषाधिकार को लेकर भी एक नये अध्याय की विवृति होगी।

टीका में कई अन्य विषयों के साथ ४ तीर्थंकरों के सम्पूर्ण जीवनवृत्त भी दिये गये हैं; ये हैं—भगवान महावीर, भगवान पार्श्वनाथ, नेमीश्वर तथा तीर्थंकर ऋषभनाथ। इनके पूर्वभवों, पंचकल्याणकों तथा अन्य जीवन-प्रसंगों का बड़ा जीवन्त वर्णन हुआ है। स्थान-स्थान पर लोकाचार का चित्रण भी है। अन्त में स्थविरावली इत्यादि भी हैं।

टीका के आरम्भिक पृष्ठों में श्रीमद् ने अपने आकिंचन्य को प्रकट किया है। उन्होंने लिखा है: "हुं मंदमति, मूर्ख, अज्ञानी, महाजड़ छतां पण श्रीसंघनी समक्ष दक्ष थइने आ कल्पसूत्रनी व्याख्या करवानु साहस करुं छुं। व्याख्यान करवाने उजमाल थयो छुं। ते सर्व श्रीसद्गुरुमनो प्रसाद अने चतुर्विध श्रीसंघनुं सांनिध्यपणुं जाणवुं जेम अन्य शासनमां कहेलुं छे के श्रीरामचन्द्रजी सेनाना वांदरायें महोटा-महोटा पाषाण लइने समुद्रमां राख्या ते पथरा पोतें पण तर्‌या अने लोकोने पण तर्‌या ते कांइ पाषाण

नो तथा समुद्रनो अने वांदराऊनो प्रताप जाणवो नही परंतु ते प्रताप श्रीरामचन्द्रजीनो जाणवो केमके पत्थरनो तो एवो स्वभाव छे जे पोतें पण वूडे अने आश्रय लेनारनें

क. सू. वा. टी. चित्र ४

'एक दिवस नाटक थातुं हतुं तेवामां राजावें निद्रा आवना लागी तेवारें शय्यापालकनें कह्यु के मने निद्रा आवी जाय तेवारें ए नाटक करनाउने शीख आपी वारी राखजो तो पण ते शय्यापालकें श्रोत्रेंद्रियना रसें करी तेमनें गीत गान करतां वारी राख्या नही एटलामां त्रिपृष्ठ जागृत थइनें वोल्यो के अरे आ नाटकी आनें शा वास्तें रजा आपी नही तेवारें शय्यापालक कह्युँ के 'हे प्रभु ! श्रोत्रेंद्रिवना रसें करी हुँ रजा आपतां चूकी गयो' ते सांमली त्रिपृष्ठनें क्रोध चड्यों पछी सीशुं गरम करी तेनो उनो-उनो रस ते शय्यापालकना कानमां रेडाव्यो।

—क. सू. वा. टी. पृ. २४

पण वूडाडे तेम हुं पण पत्थर सदृश छतां श्री कल्पसूत्रनी व्याख्या करुं छुं तेमां माहारो कांइ पण गुण जांणवो नहीं।"—(क. सू. वा. टी. पृष्ठ १)। इस तरह अत्यन्त विनयभाव से श्रीमद् ने इसका लेखन आरम्भ किया और जैन समाज को नवधर्मशिक्षा के क्षितिज पर ला खड़ा किया।

टीका की एक विशेषता उसके रेखाचित्र हैं जो विविध कथा-प्रसंगों को स्पष्ट करते हैं। इनमें से कतिपय चित्र प्रस्तुत लेख के साथ पुनर्मुद्रित हैं। इन्हें भ्रमवश जैन चित्रकला का प्रतिनिधि नहीं मान लिया जाए। वस्तुतः १९ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में मुद्रणकला के समन्वय से भारतीय चित्रकला का जो रिश्ता बना

था, उसका ही एक उन्मेप यह था। वही प्रतिविम्व यहाँ तलाशना चाहिये। इनके माध्यम से भगवान् महावीर या तीर्थंकर ऋषभदेव की समकालीन संस्कृति की

क. सू. बा. टी. चित्र ६७

'त्राहि त्राहि बोलते अवोध जीव थे जहाँ,
नेमिराज आज आप प्राणदान दीजिये।
—श्री शिवानन्दन काव्य; विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी; स. ६, वृ. २४

अभिव्यक्ति का सहज ही कोई प्रश्न नहीं है। शा. भीमसिंह माणक ने स्वयं अपनी कई भूलों को प्रस्तावना में माना है; इसलिए ग्रन्थ में सामान्यतः जो भी आयोजन है वह सौंदर्यवृद्धि की दृष्टि से ही है; क्योंकि मध्ययुग में जैन चित्रकला का इतना विकास हो चुका था कि उसकी तुलना में ये चित्र कहीं नहीं ठहरते। तथापि कई चित्र अच्छे हैं और इसी दृष्टि से इन्हें यहाँ पुनः मुद्रित किया गया है।

इस टीका की एक अन्य विशेषता यह है कि यह गुजराती भाषा में प्रकाशित है, किन्तु नागरी लिपि में मुद्रित है। जिस काम को सन्त विनोबा भावे आज करना चाहते हैं; वह काम आज से करीब ९२ वर्ष पूर्व कल्पसूत्र की इस बालावबोध टीका के द्वारा शुरू हो गया था। सम्पूर्ण टीका नागरी लिपि में छपी हुई है; इससे इसकी पहुँच तो बढ़ ही गयी है साथ ही साथ उस समय के कुछ वर्णों का क्या मुद्रण-आकार था इसकी जानकारी भी हमें मिलती है। इ, भ, उ, द, द्र, ल, छ, क्ष इत्यादि के आकार दृष्टव्य हैं। अब इनमें काफी अन्तर आ गया है। इस तरह यह टीका न केवल धार्मिक महत्त्व रखती है वरन् भाषा, लिपि और साहित्य; चिन्तन और सद्विचार की दृष्टि से राष्ट्रीय महत्त्व की भी है। हमें विश्वास है 'कल्पसूत्र' की मूल पाण्डुलिपि के सम्बन्ध में पुनः छानबीन आरम्भ होगी और उसे प्राप्त किया जा सकेगा। □

श्रीमद्राजेन्द्रसूरि की क्रान्ति के विविध पक्ष

उन्होंने यति-संस्था का कायाकल्प तो किया ही साथ ही उस माध्यम से श्रावकों की मनःस्थिति को भी बदला अर्थात् उन्हें स्पष्ट बताया कि उनके लिए कौन पूज्य है, कौन अपूज्य। सामाजिकों और साधुओं के बीच जो तालमेल टूट गया या विकृत हो गया था श्रीमद् ने उसे पुनः परिभाषित किया और साधु-जीवन की सामाजिक कुण्ठाओं का स्वस्थ निरसन किया यह एक ऐसी क्रान्ति थी, जिसने सामूहिक जीवन को अप्रमत्त, सम्पूर्ण, रचनात्मक और कल्याणकारी बनाया तथा श्रावक और श्रमण के बीच टूटती कड़ी में फिर से प्राण फूंके।

□ 'प्रलंयकर'

श्रीमद् राजेन्द्रसूरि एक सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न प्रज्ञा-पुरुष थे। उन्होंने उन्नीसवीं सदी के मध्य में अपनी साधना का आरम्भ किया। उनकी अनन्य सहिष्णुता और असीम धीरज का ही यह फल था कि वे जन-जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में अपेक्षित परिवर्तन ला सके और लोगों में परिवर्तित सन्दर्भों से समरस होने की क्षमता पैदा कर सके। जब हम राजेन्द्रसूरिजी के जीवन पर एक सरसरी नजर डालते हैं तो देखते हैं कि उन्होंने अपने समकालीन जीवन को कई तरह से मथने-परखने की कोशिश की। उन्होंने हर क्षेत्र की हर बुराई को चुनौती दी। प्रमाद और शिथिलाचार उन्हें बिलकुल पसन्द न था। मधुमक्खी की तरह काम में लगे रहना और सूरज की तरह का रोशनी से नहाया जीवन जीना उनका स्वभाव था। न एक क्षण विश्राम, न एक क्षण प्रमाद; अनवरत चलते रहना उनकी साधना का सबमें सबल पक्ष था। व्यक्ति से लेकर समूह तक को बदल डालने का उनका अभियान सामान्य नहीं था, वह एक ऐतिहासिक कार्य था जिसे करने में उन्होंने अपनी सारी शक्तियों को होम दिया।

उनका जमाना भारी उथल-पुथल का जमाना था। मुगल करीब-करीब परास्त हो चुके थे, और अंग्रेज अपने झण्डे गाड़ रहे थे। भारतीय क्षितिज पर सुधारवादी कादम्बिनी छायी हुई थी। एक अच्छा शकुन था। लोग निराशा में भी क्रान्तिघोष कर रहे थे। हार कर भी उनका मनोबल एकदम गिरा नहीं था। रेलों का जाल बिछ रहा था, और गाँवों को शहरों तथा बन्दरगाहों से जोड़ा जा रहा था। अंग्रेज अपनी दिलचस्पियों के कारण यूरोपीय क्रान्ति की कलम हिन्दुस्तान में लगा रहे थे। शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्रों में हिन्दुस्तानी और अंग्रेजी भाषाएँ

टकराने लगी थीं। अंग्रेजी ने अंग्रेजों के हितों को पुख्ता किया जरूर; किन्तु देशवासियों को क्रान्ति के प्रवुद्ध आधार भी उपलव्ध किये। उदाहरणतः भारत में रेल की पाँतें १८५३ ई. में डाली गयीं। उसी वर्ष मार्क्स ने टिप्पणी की : "मैं जानता हूँ कि अंग्रेज मिलशाह केवल इस उद्देश्य को सामने रखकर भारत में रेलें बनवा रहे हैं कि उनके जरिये अपने कारखानों के लिए कम खर्च में अधिक कपास और कच्चा माल वे हासिल कर सकें; किन्तु एक वार जव आप किसी देश के—एक ऐसे देश के जिसमें लोहा और कोयला मिलता है—आवागमन के साधनों में मशीनों का इस्तेमाल शुरू कर देते हैं, तो फिर उस देश को मशीनें वनाने से आप नहीं रोक सकते। यह नहीं हो सकता कि एक विशाल देश में रेलों का एक जाल आप विछाये रहें और उन औद्योगिक प्रक्रियाओं को आप वहाँ आरम्भ न होने दें, जो रेल-यातायात की तात्कालिक, और रोजमर्रा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक हैं। ("न्यूयार्क ट्रिव्यून", ८ अगस्त, १८५३)। आधुनिकता की इस गोद में राजेन्द्रसूरि की क्रान्ति ने जन्म लिया। एक तरह से हम कह सकते हैं कि जैन साधुओं में आधुनिकीकरण की जिस प्रक्रिया का आरम्भ होना था, उसकी एक उपक्रिया श्रीमद् के नेतृत्व में आरम्भ हुई। श्रीमद् के विचार परम्परित होते हुए भी आधुनिक थे। वे १९ वीं शताव्दी की हलचल से परिचित थे। यह सम्भव ही नहीं है कि कोई व्यक्ति अपने युग में होने वाली घटनाओं से अपरिचित रहे और उसके क्रिया-कलाप पर उस युग की कोई परछाई न पड़े।

जहाँ एक ओर, श्रीमद् के युग में, एक उदार चेतना पूरे वल से हिन्दुस्तान की जमीन पर पाँव जमा रही थी, दूसरी ओर हिन्दुस्तान की प्रायः सभी कौमें और सामाजिक वर्ग अन्धविश्वासों और कुरीतियों की व्यर्थताओं को समझने लगे थे। इस सांस्कृतिक व्यथा को श्रीमद् तथा उनके समकालीनों ने पूरी सहृदयता से समझा और चाहा कि कोई ऐसा परिवर्तन हो जिससे लोग अपने अतीत के गौरव को तो विस्मृत न करें किन्तु आने वाले परिवर्तन और उसके सन्दर्भो से भी अपरिचित न रह जाएँ, उनका वे पूरा-पूरा लाभ उठायें, इसलिए उन्होंने भारतीय संस्कृति के पुनरुज्जीवन के लिए आधुनिक साधनों के उपयोग की अपरिहार्यता को अस्वीकार नहीं किया। धार्मिक ग्रन्थों को मुद्रण की प्रक्रिया में डालना एक ऐसी ही क्रान्ति थी। आज से नौ दशक पूर्व, जव हिंसा-अहिंसा की वहस अधिक औपचारिक और स्थूल थी, किसी जैन ग्रन्थ का छपाई में जाना एक मामूली घटना नहीं थी। जहाँ इस घटना का लोग विरोध कर सकते थे, वहीं दूसरी ओर सैकड़ों जैन ग्रन्थागार अरक्षित पड़े थे। जैनागम तो उद्धार के क्षणों की प्रतीक्षा कर ही रहा था, अन्य आगमों की भी लगभग यही स्थिति थी। इस दृष्टि से श्रीमद् ने

पहला काम यह किया कि लोग आधुनिक मन से लैस होकर अतीत में वापस हों और पुरखों की ज्ञान-गरिमा को उदारता से विश्व के सम्मुख रखें। "अभिधान-राजेन्द्र" उनकी इसी भावना का प्रतीक है।

श्रीमद् की क्रान्ति-कामना के कई पहलू थे। वे चाहते थे धर्म, नीति, संस्कार, समाज, साहित्य, भाषा, शिक्षा, अर्थात् सबको उनकी सम्पूर्ण क्रान्ति छुए; यही कारण था कि उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, जबकि आवागमन और संचार के साधनों का आज जैसा विकास और विस्तार नहीं हुआ था, और कई तरह के परिवर्तन आकार ग्रहण कर रहे थे, पूरी ताकत से सारी बाधाओं को सहा और चुनौतियों को धैर्य से झेला। वे अपने संकल्प पर अविचल रहे। दृढ़ता और सत्यनिष्ठा श्रीमद् के चरित्र के विशेष सन्दर्भ हैं।

धर्म के क्षेत्र में उनकी क्रान्ति ने कई आकार लिये। सामान्य श्रमण और श्रावक के आचार को उसने प्रभावित किया। कथनी और करनी की जो एकता दोनों में टूट-घट गयी थी, उनके प्रयत्नों से वह पुनः लौटी। स्वाध्याय और सम्यक्त्व की ओर श्रमण और श्रावक-श्राविकाओं ने पदार्पण किया। यति-संस्था का कायाकल्प तो हुआ ही उसके माध्यम से श्रावकों की मनःस्थिति भी बदली। वे स्पष्ट जानने लगे कि कौन श्रमण मान्य है, कौन अमान्य। सामाजिकों और साधुओं के बीच जो तालमेल और समन्वय छिन्न-भिन्न हो गया था, बिखरा हो गया था, श्रीमद् ने उसकी पुनर्रचना की और साधुई जीवन की मानसिक कुण्ठाओं का सम्यक् निरास किया, उन्हें कल्याणोन्मुख किया। इस तरह श्रमण और श्रावक के मध्य टूटती कड़ी महावीर के बाद फिर, एक सीमित क्षेत्र में ही सही, जुड़ी। वस्तुतः यह एक ऐसी क्रान्ति थी जिसने साधुई जीवन को अप्रमत्त, अपरिग्रही, सस्फूर्त, रचनात्मक और सक्रिय बनाया। इसी सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि श्रीमद् ने कई जैन मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया, उन्हें सरकारी कब्जों से मुक्त किया और प्रतिष्ठित किया। जालौर दुर्ग के मन्दिर के लिए उन्होंने आठ महीने सत्याग्रह किया। भारत में, धार्मिक क्षेत्र में ही सही, किन्तु सत्याग्रह की यह पहली शुरूआत थी। सामन्तों को उनकी निष्ठा के आगे झुकना पड़ा। जिन मन्दिरों का शस्त्रागारों की भाँति उपयोग हो रहा था, उनका ग्रन्थागारों के रूप में उपयोग होने लगा। लोगों में साहस उत्पन्न करना और अन्याय तथा जुल्म के खिलाफ क्रान्ति की भावना खड़ी करना कोई मामूली काम नहीं था। यह उन्होंने किया। मन्दिर, आप चाहे जो कहें, सामाजिक परामर्श के बहुत बड़े केन्द्र हैं। हम इन्हें सामाजिक वात्सल्य की मातृ-संस्थाएँ कह सकते हैं, जहाँ आदमी विनयपूर्वक आता है, स्वाध्याय करता है और सामाजिक स्नेह का संवर्द्धन करता है। श्रीमद् ने सैकड़ों मन्दिरों को प्रतिष्ठित किया और उन्हें ज्ञान तथा साधना का केन्द्र बनाया।

नैतिक दृष्टि से भी राजेन्द्रसूरिजी ने समाज में एक भारी परिवर्तन किया। सम्यक्त्व की ओर चूंकि उनका ध्यान सबसे अधिक था, अतः उन्होंने श्रावक और श्रमण दोनों संस्थाओं के सम्यक्त्व में स्थितिकरण के प्रयत्न किये। श्रीमद् विरचित स्तुतियों, पदों और स्तोत्रों में सम्यक्त्व की चर्चा-समीक्षा स्पष्टतः देखी जा सकती है। श्रीमद् ने जिन स्तोत्रों और स्तुतियों की रचना की है वे रूढ़ नहीं हैं; उनकी अन्तरात्मा में जैनत्व धड़क रहा है। प्रशंसात्मकता और गरिमा-विवरण के साथ इनमें से जीवन-सन्देश भी सुना जा सकता है। श्रीमद् की नैतिक क्रान्ति का आधार ये स्तोत्र-स्तुतियाँ और पद भी हैं। "कल्पसूत्र" की बालावबोध टीका में कई स्थानों पर श्रीमद् ने नैतिक मूल्यों की चर्चा की है। कथा के साथ नीति-चर्चा श्रीमद् के व्यक्तित्व की विशेषता है। "कल्पसूत्र" की इस टीका में उन्होंने एक स्थल पर यह स्पष्ट कहा है कि "हम जितना व्यय व्यर्थ की सामग्रियों को इकट्ठा करने और प्रीतिभोजों में करते हैं, उतना यदि ग्रन्थागारों को समृद्ध बनाने में करें तो बड़ा काम हो सकता है। ज्ञानदान सब दानों में सिरमौर है। हमें कौटुम्बिक ग्रन्थागार भी बनाने चाहिये। हर परिवार का अपना धर्म-ग्रन्थालय हो, जिसमें चुने हुए ग्रन्थ हों; जिस तरह हम चुने हुए कपड़े, चुने हुए आभूषण और चुने हुए खाद्य रखते हैं; चुने हुए शास्त्र क्यों नहीं रखते?" इस तरह उन्होंने नीति के क्षेत्र में अपने समकालीन सामाजिकों की ज्ञान-पिपासा को जगाया और साधु तथा गृहस्थ दोनों को स्वाध्याय में प्रवृत्त किया। उनकी 'नवकलमें' जिन्हें क्रान्ति का शिला-लेख माना जाता है, श्रीमद् की क्रान्ति-कथा का नभभेदी उद्घोष करती हैं।

सांस्कारिक क्रान्ति की दृष्टि से भी श्रीमद्राजेन्द्रसूरि के क्रान्तिकारी विचारों का महत्त्व है। उन्होंने श्रुत-विनय पर विशेष ध्यान दिया। विनय उनकी ज्ञानोपासना का प्रधान अंग था। ग्रन्थों को हम किस तरह रखें, किस तरह उन्हें वाचन के लिए स्थापित करें, दूसरों के लिए हम निरहंकार भाव से किस तरह वितरित करें, इत्यादि कई आवश्यक पक्षों का उन्होंने बड़ा स्पष्ट वर्णन किया है। "कल्पसूत्र" की बालावबोध टीका है लघुकाय किन्तु इस दृष्टि से उसमें कई ध्यातव्य बातें कही गयी हैं। श्रीमद् के अनुसार 'शास्त्र कल्पवृक्ष हैं, हमें स्वाध्याय से उनका सिंचन करना चाहिये। विनय जीवन का बहुत बड़ा संस्कारक तत्त्व है, नयी पीढ़ियों में इसका समुचित और सन्तुलित विस्तार होना चाहिये।' शास्त्र-विनय, चैत्य-विनय, स्वाध्याय, परस्पर स्नेह और वात्सल्य, सप्तव्यसनों का त्याग इत्यादि अनेक संस्कारों पर जो व्यक्ति को भीतर से माँजते थे, श्रीमद् का बराबर ध्यान था। वे प्रवचनों में और अपने नित्य जीवन में इनकी चर्चा करते थे और व्यवहार में लाते थे। पूरी उज्ज्वलता और नैतिक कसावट में बिताया गया उनका जीवन उनके प्रवचनों का, उनके कठोर व्यक्तित्व का प्रतिनिधि है।

यदि हम काव्य का आश्रय लें तो कहेंगे कि श्रीमद् का सम्पूर्ण जीवन दशवैकालिक का एक जीवन्त दस्तावेजी चलचित्र था। उनके जीवन में शैथिल्य और प्रमाद, चंचलता और अपरिपक्वता का कोई स्थान नहीं था। मुनिचर्या का कठोर-निर्मम अनुपालन, दुर्द्धर तप और जिनवाणी का अध्ययन उनके जीवन का समुज्ज्वल त्रिभुज था। इसके कई उदाहरण हमें मिलते हैं। लिखने-पढ़ने का काम वे सूर्यास्त के पहले ही समाप्त कर लिया करते थे। अहिंसा व्रत का वे इतना सूक्ष्म पालन करते थे कि लेखनोपकरण के रूप में नारियल के खप्पर में स्याही में तर कपड़ा रखते थे, जिसे सूर्यास्त से पूर्व सूखने डाल देते थे और सूर्योदय पर भिगो लेते थे। रात को कभी उन्होंने लिखा-पढ़ा हो, इसकी कहीं कोई सूचना नहीं है। आज वह परम्परा नहीं है। इतना होते हुए भी वे हमें जो दे गये हैं वह चौबीसों घण्टे लगातार कार्यनिरत रहने वाले व्यक्ति द्वारा भी सम्भव नहीं है। वस्तुतः वे संस्था-पुंज थे, व्यक्ति थे ही नहीं; उन्होंने जो कार्य किये हैं, उनसे इतिहास बना है, मानवता का ललाट अलंकृत हुआ है।

सांस्कारिक क्रान्ति की भाँति ही उनकी सामाजिक क्रान्ति है। उसके भी विविध आयाम हैं। जैसा बहुआयामी उनका व्यक्तित्व है, वैसी ही बहुआयामी उनकी क्रान्ति है। इस क्षेत्र में उन्होंने निर्वैर, मैत्री, सामाजिक वात्सल्य और समन्वय की वृत्ति के प्रसार से काम लिया। चीरोला का उदाहरण उनकी समन्वयी चेतना का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। जो वैर दशकों से चला आ रहा था, उन्होंने कुछ ही क्षणों में उसे समाप्त कर दिया। विभिन्न प्रतिष्ठाओं और अंजन-शलाका-समारोहों का संयोजन भी सामाजिक सन्तुलन बनाने की पहल के अन्तर्गत आता है। समारोहों में लोग दूर-दूर से आते हैं, एक-दूसरे की सहायता करते हैं, सामुदायिक जीवन जीते हैं और स्वाध्याय-प्रवचन द्वारा एक-दूसरे के विचारों को समझते-समझाते हैं। इससे उदारता, सहिष्णुता, स्नेह, समन्वय और धीरज जैसे चारित्रिक गुणों का विकास होता है और सामाजिक कार्यों के लिए एक नवभूमिका बनती है। श्रीमद् रूढ़ या परम्परित विचारधारा के नहीं थे किन्तु जैनों में जो सामाजिक पार्थक्य उत्पन्न हो गया था उसे वे स्नेह-सौहार्द्र में परिवर्तित करना चाहते थे। वे अपने संकल्प को साकार करने में सफल हुए। उनके द्वारा हुई प्राण-प्रतिष्ठाएँ तथा अन्य समारोह कोरे धार्मिक आयोजन नहीं हैं, समाजशास्त्रीय दृष्टि से उनका बड़ा महत्त्व है। इन समारोहों की सर्वोत्तम फलश्रुति तो यह है कि जो सम्पदा सञ्चित पड़ी थी उसका सदुपयोग हुआ और वर्षो से चली आ रही कई सामाजिक शत्रुताएँ समाप्त हो गयीं।

साहित्यिक दृष्टि से उन्होंने क्या किया और क्या नहीं, इसका अभी तक कोई व्यवस्थित और वस्तुपरक अध्ययन नहीं हो पाया है। इस नज़र से उनकी

साहित्य-साधना क्रान्तिधर्मी है कि उन्होंने जो भी लिखा वह मात्र वैयक्तिक नहीं है, उसका सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष है। उनके पदों में लोक-मंगल की जो भावना है, उसकी सराहना किये बिना कोई रह नहीं सकता। सर्वधर्मसमन्वय की एक उन्मुक्त प्राणधारा उनके इन पदों में धड़क रही है। सब धर्मों का समन्वय करते हुए सत्य और सम्यक्त्व की खोज उनकी स्पष्ट जीवन-चर्या है। उन्होंने लगभग सम्पूर्ण जैन वाङमय का सम्प्रदायातीत पारायण किया और एक वैज्ञानिक की तरह उसे व्यवस्थित और आकलित करने के प्रयत्न किये। जहाँ आवश्यक हुआ उन्होंने कुछ दुर्लभ ग्रन्थों का पुनर्लेखन भी करवाया और कुछ महत्त्व के तथा सामाजिक उपयोग के ग्रन्थों के मुद्रण की भी अनुमति प्रदान की। उन्होंने खुद तो जैनश्रुत का पुनर्व्यवस्थापन किया ही, अपने समकालीन श्रमणों और श्रावकों को भी इस दिशा में प्रवृत्त किया। "अभिधान-राजेन्द्र" और "पाइय-सद्दंबुही" उनकी दो ऐसी कृतियाँ हैं, जिन्हें 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' नहीं भुलाया जा सकेगा। इनके द्वारा प्राकृत, मागधी और संस्कृत भाषाओं को जो समृद्धि मिली है, वह कई शताब्दियों में भी सम्भव नहीं थी। प्रायः सभी विद्वानों ने "अभिधान-राजेन्द्र" की व्यापक उपयोगिता को स्वीकार किया है। इनके अलावा उन्होंने कई पूजाएँ, कई स्तोत्र और कई पद लिखे हैं। काव्य की दृष्टि से वैसे अभी इनका मूल्यांकन शेष है, किन्तु इतना तो निर्विवाद है ही कि ये शुष्क नहीं हैं, इनका अन्तर्तल रससिक्त है और इनमें भक्ति की अखूट रसधार प्रवाहित है। उनकी साहित्य-साधना का सबसे अच्छा परिणाम यह निकला कि अब तक जो धन भोग-विलास या साधन-सुविधाओं में व्यर्थ ही जा रहा था, या यों ही जड़ावस्था में निष्क्रिय था वह सक्रिय हुआ और ज्ञान की टूटने पर आ पहुँची परम्परा को बचाया जा सका। वैयक्तिक सम्पदा और सामाजिक पुरुषार्थ को इस तरह लोकमंगल की दिशा में मोड़ने का काम राजेन्द्रसूरि ही कर सकते थे। जैनों में पठन-पाठन के संस्कार का अंकुर जो लगभग लुप्त हो चला था, श्रीमद् के प्रयत्न से पुनः लहलहाया और साहित्य के प्रति लोगों में अनुराग उत्पन्न हुआ। आज जैनों में पढ़े-लिखों का जो उन्नत प्रतिशत है उसकी पृष्ठभूमि पर श्रीमद्राजेन्द्रसूरि जैसे साहित्योपासक साधुओं का कृतित्व ही स्पन्दित है।

भाषाओं के क्षेत्र में राजेन्द्रसूरिजी की एक अपूर्व भूमिका है। जैन तीर्थंकरों ने कभी भी किसी ऐसी भाषा को स्वीकार नहीं किया जो मृत हो चुकी थी या जिसने जनता में अपना प्रचलन खो दिया था। उन्होंने कथ्य और कथन दोनों पर ध्यान दिया। साध्य व्यापक हो तो साधन भी व्यापक चाहिये; साध्य पवित्र हो, तो साधन भी पवित्र चाहिये। साध्य-साधन की इस एकरूपता की ओर लोगों का ध्यान भले ही न गया हो, जैन तीर्थंकरों ने इसका पूरा ध्यान रखा। श्रीमद् ने इस सन्दर्भ में एक भिन्न किन्तु अधिक उपयोगी भाषा-नीति का अनुपालन किया।

उन्होंने परम्परित भाषाओं को संरक्षण दिया, किन्तु लोकभाषा में आम आदमी तक जैनधर्म का कल्याणकारी सन्देश पहुँचाया। "अभिधान-राजेन्द्र" के रूप में उन्होंने जिनवाणी की अथाह सम्पदा की रक्षा की और "कल्पसूत्र की बालावबोध टीका" द्वारा वे आम आदमी के आँगन में उतरे। उन्होंने विद्वज्जन और सामान्यजन दोनों के हितों का ध्यान रखा और भाषा की निर्द्वन्द्व नीति का अनुसरण किया। उनकी यति-क्रान्ति की "नवकलमें" मारवाड़ी मिश्रित हिन्दुस्तानी में लिखी गयी हैं। इसी तरह उनके पद मारवाड़ी भाषा में हैं, कल्पसूत्र की बालावबोध टीका "मारवाड़ी, मालवी और हिन्दुस्तानी" का मिला-जुला रूप है, उस पर गुजराती की भी प्रतिच्छाया है। इस तरह श्रीमद् ने जनभाषा का पूरा सम्मान किया और उन भाषाओं का जो जैन वाङ्मय की आधार भाषाएँ थीं, संरक्षण किया; ग्रन्थागार स्थापित किये, क्षत-विक्षत शास्त्रों के पुनर्लेख करवाये और उन्हें ग्रन्थागारों में व्यवस्थापूर्वक सुरक्षित किया। यह उनके जीवन का बहुत बड़ा मिशन था, जिसे उन्होंने सुदृढ़ संकल्प और निष्ठा के साथ सम्पन्न किया। आहोर का राजेन्द्र ग्रन्थालय उनके इस अवदान का साकार रूप है। दूसरी ओर "अभिधान-राजेन्द्र" द्वारा उन्होंने शब्दों को व्यवस्थित किया, उनके विविध सन्दर्भों को स्पष्ट किया, उनके अर्थबोध परिभाषित किये और एक समुद्र को एक घट में समेटने जैसा परम पुरुषार्थ किया। विभिन्न शब्दों के तन से लिपटे अर्थ एक ही जगह व्यवस्थित कर दिये गये और जैनधर्म और दर्शन को सुलभ कर दिया गया। श्रीमद् का वश चलता तो वे "अभिधान-राजेन्द्र" की शब्द-व्याख्याएँ हिन्दी में भी देते किन्तु उनके युग में हिन्दी का इतना विकास नहीं हो पाया था कि वह कोशीय व्यवस्था और उसकी कसावट को पूरी तरह झेल सके, फिर भी "अभिधान-राजेन्द्र" के आरम्भ तथा अन्त में हिन्दी का उपयोग किया गया है। एक-दो जगहों पर तो अंग्रेजी का उपयोग भी हुआ है। इससे पता चलता है कि श्रीमद् के मन में किसी भाषा के लिए कोई पूर्वाग्रह नहीं था। वे अपने समसामयिक सम्प्रेषण-माध्यमों का पूरे औदार्य के साथ उपयोग करना चाहते थे, और इसीलिए उन्होंने पूरे नैतिक और सांस्कृतिक साहस के साथ इन माध्यमों का इस्तेमाल किया भी। भारत की प्राचीन भाषाओं को श्रीमद् के प्रति कृतज्ञता का अनुभव करना चाहिये कि उन्होंने इन्हें समृद्ध किया और एक आन्तर देशीय मंच पर उतारा।

शैक्षणिक दृष्टि से भी श्रीमद् का बड़ा योग है। उन्होंने प्राचीन भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से कई ग्रन्थों की रचना की और जगह-जगह पाठशालाएँ खोलने पर बल दिया। धरणेन्द्रसूरिजी के दफ्तरी के रूप में रहकर उन्होंने यतियों को काव्यांगों तथा विभिन्न प्राचीन भारतीय भाषाओं को पढ़ाया भी। इस तरह वे न केवल एक अच्छे ज्ञानार्थी थे वरन् एक चुस्त और अप्रमत्त अध्यापक भी थे। जब हम श्रीमद् के जीवन पर एक विहंगम दृष्टि डालते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने ग्रन्थों के पठन-पाठन, उनकी सहज उपलब्धि, उनके लेखन,

संरक्षण, व्यवस्थापन, संग्रहण इत्यादि पर ध्यान दिया और उगती पीढ़ी को उनके महत्त्व को समझाया।

उनकी क्रान्ति का मूल लक्ष्य, यदि वस्तुतः देखा जाए, तो व्यक्ति ही है। एक अच्छे धनुर्द्धर की तरह उनका ध्यान व्यक्ति को आमूल वदलने पर रहा। उन्होंने उस व्यक्ति को जो मध्य युग के सांस्कृतिक और सामाजिक हमलों के कारण जगह-जगह से क्षत-विक्षत हो गया था और पैवन्दों की ज़िन्दगी जी रहा था, उसे सावित किया और पूरे वल के साथ उसे फिर खड़ा किया। उसकी निराशाओं को दूर किया और उसमें प्रकाश की अनन्त शक्तियों को उन्मुक्त किया। उन्होंने ज्ञान के स्रोतों को सहज उपलब्ध कर उसके स्वाभाविक व्यक्तित्व को पुनरुज्जीवित किया और वह वुराइयों से जूझ सके इतनी ताकत और इतने पुरुषार्थ से उसे लैस किया। यों कहा जाएगा कि उन्होंने चुकते हुए हिम्मतपस्त श्रावक को आत्म-निर्भर और साहसी-पराक्रमी होने के लिए ढाढस वंधाया, उसे उत्साहित किया। मूल में जैन साधना व्यक्ति-मंगल की साधना है; श्रमण संस्कृति व्यक्ति को मांज कर पूरे समाज को मांजने वाली संस्कृति है। व्यक्ति समाज की इकाई है, यदि सारी इकाइयाँ सवल हैं, फलप्रद हैं, पराक्रमी हैं, तो कोई ऐसा कारण नहीं है कि समाज का पतन हो और उसे गुलामी या अज्ञान के दिन काटने पड़ें। जैन दर्शन के आत्म स्वातन्त्र्य की ओर आँखें उघाड़ कर श्रीमद् ने व्यक्ति को साहसी, सहिष्णु, धैर्यवान और सत्यनिष्ठ वनाया।

इस तरह हम देखते हैं कि श्रीमद् की क्रान्ति एक सम्पूर्ण, सर्वतोभद्र, सर्व-तोमुख और लोकमंगलोन्मुख क्रान्ति थी जिसने व्यक्ति और समाज दोनों को जड़मूल से वदला और उनकी कोणात्मकता, वर्वरता और जड़ता को क्रमशः स्निग्धता, करुणा और ज्ञान-गरिमा में परिवर्तित किया। □

श्रद्धा आवश्यक है

"संस्कृति केवल दार्शनिक विचारों पर अवलम्वित नहीं होती। विचारों की अव्यक्त भूमिका में श्रद्धा का होना आवश्यक है। श्रद्धा शब्द श्रत् से बना है। श्रत् का अर्थ है सत्य। जहाँ यह भाव हो कि यह सत्य है, चाहे इसका आज प्रत्यक्ष न हो रहा हो परन्तु एक दिन हो कर रहेगा, वहीं श्रद्धा का निवास होता है। केवल दार्शनिक विचार किसी को पण्डित वना सकते हैं, परन्तु उनमें सर्जन-शक्ति नहीं होती। रूस में आज नया विचार और उसके साथ दृढ़ श्रद्धा है। उसने नयी कला, नये साहित्य को जन्म दिया है, जीवन को नया रूप दिया है, शिक्षा की दिशा वदल दी है। —डॉ. संपूर्णानन्द, १९५३

रत्नराज से राजेन्द्रसूरि

राजस्थान के लहू में पार्थिव पराक्रम के साथ आध्यात्मिक शूरता कितनी है, इसका प्रमाण भरतपुर में ३ दिसम्वर, १८२७ को तव मिला जव एक मामूली से व्यवसायी कुल में शिशु रत्नराज ने जन्म लिया। एक साधारण खानदान, सादगी और निष्कपटता का निर्मल वातावरण, सर्वत्र चाँदनी से हिमधवल संस्कार। रत्नराज के पिता का नाम ऋषभदास था, माता का केसरवाई। दो भाई, वड़े माणकलाल; दो वहनें, वड़ी गंगा, छोटी प्रेम। सवमें परस्पर प्रगाढ़ स्नेह था, सव मिलजुलकर काम करते, सूरज के साथ उठते, कथा-कहानियों के साथ सोते। इस तरह कुटुम्व में कुल छह प्राणी थे। कर्त्तव्य और श्रम की अनवरत उपासना में कसा हुआ एक भव्य कुटुम्व था रत्नराज का। स्वयं रत्नराज का व्यक्तित्व सरल, निश्छल और सहृदय था। उन्हें सवका खूव प्यार मिला था। घर-कुटुम्व, पास-पड़ौस सवका उन पर विश्वास था, सवकी उन पर ममता थी। वे स्वयं भी उदार थे; न किसी से तकरार, न किसी से वैर, न किसी को कोई कष्ट। 'संसार क्या है, क्यों है, कैसा है? यहाँ सव इतने दुःखी क्यों हैं? क्या सांसारिक दुःखों का कोई अन्त नहीं है? इससे मुक्ति का कोई निर्विकल्प मार्ग नहीं है? क्या यह गौरख-धन्धा अछोर-अनन्त है? ज्ञान और आनन्द का कोई स्रोत इन परेशानियों और उलझनों में खुल सकता है या नहीं?' ऐसे सैकड़ों संकल्प-विकल्प उनके मन के आकाश पर छाये रहते, कुछ दिनों वे इनकी अनसुनी करते रहे किन्तु अन्ततः वह मोड़ आ ही गया जव इन सवालों के समाधान के लिए उठे उनके कदम कोई रोक न सका।

शैशव वैसे फूलों की शैया पर ही वीता किन्तु कैशोर्य में उनकी सुकुमार पगतलियाँ काँटों से विंधने लगीं। शिक्षा-दीक्षा सामान्यतः उन दिनों जैसी रूढ़ और परम्परित थी, हुई; रत्नराज का ध्यान मुख्यतः धर्म और अध्यात्म की ओर ही गया। ग्यारह वर्ष की नन्हीं वय में अपने अग्रज के साथ वे जैन तीर्थों की वन्दना पर निकले। घूमने और जानने की वृत्ति उनमें वाल्यावस्था ही से थी; किन्तु सोद्देश्य, निरुद्देश्य भटकना उनके रक्त में न था। ज्ञान के लिए उनमें अवुझ प्यास थी, अनन्त उत्कण्ठा थी। अध्यात्म में गहरी रुचि थी, परम्परित शिक्षा में कोई आस्था नहीं थी, इसीलिए शालेय शिक्षा उन्होंने अधिक नहीं ली। धार्मिक शिक्षण जो भी हुआ, उसकी भूमिका पर अध्यात्म-विद्या ही अधिक थी।

बालक रत्नराज के मन में आरम्भ से ही संसार के प्रति एक सार्थक विकर्षण था। चित संसार के गोरख-धन्धे और उसकी माया में रमाये न रमता था; लगता था जैसे कोई तप-विस्मृत योगी विवशता में दुनियावी जिन्दगी बिता रहा है। संसार की क्षण-भंगुरता के प्रति उनकी आँखों में एक स्पष्ट जगह बन चुकी थी; इसलिए घर के कामकाज में भी वे सतह पर ही बने रहे, कभी पूरी तरह डूब नहीं पाये। व्यापार के लिए कलकत्ता गये और वहाँ से सिंहलद्वीप भी; किन्तु मन कहीं रमा नहीं। जहाँ भी गये, मन में एक ऊब और आकुलता का अनुभव करते रहे। इन सारे कामों को करते उन्हें संसार की व्यर्थता का बोध हुआ। सहसा लगा जैसे मनुष्य की उम्र आंजुरी का जल है, जो घटनाओं की अंगुलि-सन्धियों में से धीरे-धीरे रीत रही है। उन्हें यह भी लगा कि "यहाँ जो उगा है, वह अस्त होगा; जो जला है, वह बुझेगा; जो खिला है, वह खिरेगा; जिसका जन्म हुआ है, मरण उसकी अनिवार्य नियति है। समय कम है, काम अनन्त है।" ऐसे कई विचार शैशव मे ही उनकी चेतना पर बने रहते और उनका चित्त निरा-कुलता की खोज में सतत लगा रहता।

तब उनकी वय यही कोई उन्नीस होगी। तरुणाई अंगड़ाई भर रही थी और रत्नराज का चित्त संसार से उचट रहा था। वे एक ऐसी मशाल की खोज में थे जिससे वे अपनी साधना का दीपक प्रज्ज्वलित कर सकें। प्रमोदसूरिजी के भरतपुर-आगमन ने उन्हें आशा की एक किरण दी। मन नाच उठा। उन्होंने बहुत शान्त चित्त से सूरिजी के प्रवचन सुने। लोक मारवाड़ी में अत्यन्त निष्कपट निश्छल प्रवचनों ने उनके भीतर की आँखें उघाड़ दीं। उन्हें अहसास हुआ कि जिस गंगा की तलाश में वे थे, वह स्वयं उनके द्वार खड़ी है। मन उमंगों में झूम उठा। लगा जैसे भीतर बैठा कोई तपस्वी आँखें मसल रहा है और एक सूरज को ऊगता देख रहा है। रत्नराज को अनुभव हुआ जैसे कोई अमावस्या गुजर गयी है और सवेरे के नरम सूरज की ऊनी किरणें उनके चित्त को ताजा कर रही हैं। उन्होंने कुटुम्बियों से विचार-विमर्श किया और सूरिजी से यति-दीक्षा के लिए विनयपूर्ण निवेदन किया। सूरिजी ने देखा कि रत्नराज के रूप में भारतीय संस्कृति के क्षितिज पर एक नये नक्षत्र का उदय हो रहा है, जो अन्धकार को हटायेगा और प्रकाश का प्रसार करेगा। वे मन ही मन उल्लसित हुए। उनके चित्त के आँगन में मानो श्रमण संस्कृति के किसी उज्ज्वल भविष्य ने अल्पिन किया हो, मंगल घट की स्थापना की हो। सूरिजी ने उत्तर दिया: "रत्नराज, मैं तो यह काम नहीं कर सकूँगा, किन्तु उदयपुर में मेरे गुरुभाई हेमविजयजी हैं, वे तुम्हारा प्रयोजन सिद्ध कर सकेंगे।" रत्नराज का संकल्प अविचल था। वे तुरन्त निकल पड़े और १८४६ ई. में उन्होंने यतिदीक्षा ले ली।

यह एक ऐसा समय था कि जब हिन्दुस्तान आजादी की लड़ाई के लिए कमर कस रहा था और रत्नराज रत्नविजयजी के रूप में एक अलग ही स्वाधीनता-संग्राम की योजना कर रहे थे। स्वाधीनता-युद्ध दोनों थे; रत्नविजय आध्यात्मिक स्वाधीनता की लड़ाई जूझना चाहते थे, और भारत को राजनीतिक पराधीनता के लिए फिरंगियों से जूझना था; एक दुश्मन भीतर था, एक बाहर। रत्नराज यति हुए तन-मन से. ऐसे जमाने में जब तन के यती तो सैकड़ों थे, मन के इक्के-दुक्के कोई थे। जैन यतियों का उन दिनों का जीवन भोग-विलास में डूबा हुआ था। वे सामन्ती ठाठ से रहते थे, सीमाहीन परिग्रह रखते थे, बेहिसाब दौलत, बेइन्तहा साधन-सुविधाएँ। ऐसे विषम समय में जब लोग जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में "अशुद्ध साधनों से, शुद्ध साध्य" को हासिल करने का ढोंग कर रहे थे, रत्नविजयजी ने साध्य-साधन-शुचिता का पूरे बल से उद्घोष किया। उन्होंने कहा "साध्य यदि शुद्ध है और प्राप्य है, तो उसे निष्कलंक साधनों से और निष्काम भाव से ही प्राप्त करना चाहिये, अशुद्ध साधनों से शुद्ध साध्य प्राप्त हो ही नहीं सकता; आरम्भ में साधक को भले ही लगे कि उसने अपना लक्ष्य पा लिया है, किन्तु जल्दी ही उसकी भ्रान्ति टूट जाती है; इसलिए "साध्य शुद्ध, साधन शुद्ध" का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये।" (यह गांधीजी के जन्म का वर्ष था जब रत्न-विजयजी ने यति-क्रान्ति के सन्दर्भ में "साधन-साध्य-शुचिता" के सिद्धान्त को अपनी करनी में प्रकट किया।) इस तरह उन्होंने धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में क्रान्ति की एक विमल पीठिका की रचना की।

१८४९ ई. में उन्होंने अपना चातुर्मास उज्जैन में सम्पन्न किया। अवन्तिका उनके लिए ज्ञानतीर्थ सिद्ध हुई। यहाँ उन्हें खरतरगच्छीय श्रीसागरचन्द्रजी का सान्निध्य प्राप्त हुआ। यति सागरचन्द्रजी प्रज्ञा-पुरुष थे। उनसे रत्नविजयजी ने व्याकरण, काव्यांग, न्याय, कोश, अलंकार, रस, छन्द इत्यादि का अध्ययन किया। आगे चलकर १८५२ ई. में उन्होंने बड़ी दीक्षा ली और अब वे "पंन्यास" कहे जाने लगे।

१८६४ में उनकी कार्यकुशलता, निष्ठा, लगन, अध्ययनशीलता, साधना और विद्वत्ता को देख कर श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरिजी ने उन्हें अपना "दफ्तरी" नियुक्त किया। "दफ्तर" मुगलिया शब्द है, जिसका अर्थ है "कार्यालय, ऑफिस"। यतियों का कारोबार बढ़ा हुआ था। उन्हें दफ्तर रखना होता था, रिकार्ड रखने होते थे; यह काम कठिन और उलझनपूर्ण था। इसे कोई कार्यकुशल व्यक्ति ही कर सकता था। रत्नविजयजी की याददाश्त प्रखर थी. वे मधुमक्खी की तरह काम करते थे और अपने साथी यतियों को पढ़ाते थे। दफ्तरी की जिम्मेवारी के साथ वे एक अध्यापक की जिम्मेवारी भी बराबर निभा रहे थे। अधिकांश लोग कई प्रलोभनों

और लालसाओं के कारण यति बनते थे किन्तु रत्नराज ने एक लक्ष्य-सिद्धि के लिए दीक्षा ली थी। इस क्षेत्र में आने का उनका एक स्पष्ट उद्देश्य था। वे संसार से मुक्त होना चाहते थे, पलायन उनका लक्ष्य नहीं था। उन्होंने अनुभव किया था कि श्रमण-संस्कृति को ख-ग्रास ग्रहण लग गया है। वे इससे उसे मुक्त करना चाहते थे। आरम्भ में उन्हें लगा था कि चुनी हुई डगर कंटीली है, विघ्नों से भरी हुई है; किन्तु उनकी लगन, निष्ठा और कार्य-कुशलता ने व्यवधानों पर विजय पायी और वे सफल हुए।

"दफ्तरी" के रूप में काम करते हुए भी उनका यति निरन्तर अप्रमत्त, निष्काम और निरहंकार बना रहा। उनकी चर्या बहुत स्पष्ट और निर्विवाद थी; काम से काम, अध्ययन, यतियों को अभ्यास, और साधना।

एक दिन की घटना है। पर्युषण का कोई प्रवचन समाप्त हुआ था। रत्नविजयजी श्रीपूज्य से मिलने आये थे। प्रवचन प्रभावशाली हुआ था। उसमें अ-परिग्रह की सार्थकता और उपयोगिता पर विचार किया गया था। रत्नविजयजी का मन कथनी-करनी के विरोधाभास से एक नयी गर्माहट महसूस कर रहा था। उनके चित्त पर अपरिग्रह की शास्त्रीय परिभाषाएँ और यतियों के जीवन में उनकी नृत्य-लीला दोनों चढ़े हुए थे। वहाँ यति-जीवन का एक और ही आयाम करवट ले रहा था। इस तरह अपने अवचेतन मन पर क्रान्ति की एक अपरिभाषित लहर लिये वे श्रीपूज्य के कक्ष में दाखिल हुए। कक्ष अभिजात उपकरणों से सजा था। सूरिजी पोढ़े थे। उनके केश लम्बे थे, सँवरे थे और सारा कक्ष सुरभियों में गमक रहा था। वे ढाका की मलमल ओढ़े थे। वासक्षेपों की सुगन्ध से कहीं अधिक तीखी सुगन्ध घ्राण-रन्ध्रों को छू रही थी। इस तरह एक अपरिग्रही के कक्ष में परिग्रह का नंगा नाच हो रहा था। रत्नविजयजी ने पाया कि श्रमण संस्कृति की मूल प्राणधारा से कक्ष की सजावट और सुरभियों की गमक की कोई संगति नहीं है। यतियों को सबके साथ निष्कपट व्यवहार करना चाहिये। 'क्या हम भगवान महावीर की जय के साथ इतना भारी परिग्रह रख सकते हैं? क्या इन्द्रियों को जीतने वाले उन महान् तीर्थंकरों की परम्परा में हमें इन्द्रियों की इस दासता में एक पल भी साँस लेने का अधिकार है? यह एक क्रूर मज़ाक है, श्रमण संस्कृति की निर्मल परम्पराओं के साथ।' उनके मन में यह द्वन्द्व आकार ले ही रहा था कि धरणेन्द्रसूरिजी ने कहा: "आओ रत्नविजयजी, ये श्रावकजी हमारे लिए नया इत्र लाये हैं, इसे आप ग्रहण करें।" रत्नविजयजी का रोआँ-रोआँ झनझना उठा। वे सोचने लगे इत्र और श्रमण, कहाँ वह त्याग और कहाँ यह ओछा ग्रहण; कहां तीर्थंकरों की वे दुर्द्धर तपश्चर्याएँ और कहाँ यह "इत्र", कहाँ नीलांजना का नृत्य और तज्जन्य वैराग्य और कहाँ यह कक्ष और यह इत्र; कहाँ भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान महावीर पर हुए उपसर्ग और कहाँ यह इत्र। वे विद्रोह में

तमतमा उठे। उन्होंने सूरिजी से स्पष्ट शब्दों में कहा "उन की किसी श्रमण को कोई आवश्यता नहीं है। उसके पास पहले ही बहुत काम है। एक अप्रमत्त साधक के पास श्रुताध्ययन और साधना का काम ही इतना अधिक होता है कि वह इन्द्रियों की किसी दासता में फंसे इसके लिए कोई अवकाश निकल पाये।" सारे कक्ष में सन्नाटा छा गया। धरणेन्द्रसूरिजी के लिए यह एक अनहोनी थी। उनका रोम-रोम काँप उठा। उन्हें दफ्तरी के बालक उद्बोधन की अपेक्षा तिरस्कार जैसे लगे। वे बोले: "दफ्तरीजी, हम आपका हमेशा बहुमान करते आये हैं, किन्तु सबके सामने आप हमें इस तरह अपमानित करेंगे यह हमने सोचा भी न था। मैंने ही आपको यह पद दिया है। कई योग्य यति इस पर आँख लगाये हुए हैं।" रत्न-विजयजी तो इस क्षण की प्रतीक्षा ही कर रहे थे। वे बिजली की तरह कक्ष से बाहर आ गये। दूसरे दिन सुबह ही वे घाणेराव से अपने कुछ यति-साथियों के साथ आहोर की ओर चले गये। आहोर में उन्होंने प्रमोदसूरिजी से सारी स्थिति पर सलाह-मशविरा किया और यहीं से यति-क्रान्ति का शिलान्यास हुआ। प्रमोद-सूरिजी ने रत्नविजयजी को "श्रीपूज्य" की उपाधि से अलंकृत किया और इस तरह अब वे सम्पूर्ण साधु हो गये। तदनन्तर विहार करते हुए वे अपने यति-समुदाय के साथ जावरा आये और वहीं उन्होंने वर्षावास का संकल्प किया।

इसी बीच श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरि का माथा ठनका। उन्हें लगा कि तीर्थंकरों की परम्परा अपरिग्रह की है। यतिवर्ग घोर परिग्रही है। रत्नविजयजी, जो अब राजेन्द्रसूरिजी हो गये थे, ने ठीक कहा था। यतियों को श्रमण संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि बनना चाहिये। वे धर्म-ध्वज हैं, उनसे धर्म जाना जाता है। यदि बागड़ ही खेत खाने लगेगी तो फिर खेती की रक्षा कैसे होगी? इस तरह उनके मन में राजन्द्रसूरिजी के प्रति आदर और सम्मान के भाव का पुनरावर्तन हुआ। उन्हें लगा जैसे चन्दन-वृक्ष के समीप रह कर भी वे सुवासित नहीं हो सके, घर आयी गंगा में अवगाहन का पुनीत अवसर उनके हाथ से निकल गया। अतः उन्होंने यतिश्री सिद्धकुशलजी और श्री मोतीविजयजी को जावरा भेजा। दोनों यतियों ने राजेन्द्रसूरिजी से खुलकर चर्चाएँ कीं और सारी स्थिति की एक निष्पक्ष समीक्षा सम्भव हुई। राजेन्द्रसूरिजी तो अपने संकल्प पर सुमेरु की भाँति अविचल थे। वे यति-संस्था को आमूल बदल डालना चाहते थे, अतः परिस्थितियों के परीक्षण और वस्तुनिष्ठ समीक्षण के बाद उन्होंने एक 'नौ सूत्री' योजना तैयार की। इसमें यति-जीवन को श्रमण संस्कृति के अनुरूप ढालने के नौ उपाय थे। इसे यति-संस्था का 'मेनीफेस्टो' या क्रान्ति-पत्र कहा जा सकता है। इन नौ कलमों में राजेन्द्र-सूरिजी ने तत्कालीन यति-जीवन का समीक्षण तो किया ही था, यति "क्या करें और क्या न करें" इसके स्पष्ट निर्देश भी दिये थे। इस "क्रान्ति-पत्र" के माध्यम से उन्होंने यति-जीवन का सरलीकरण और नवीनीकरण किया। घाणेराव से आये

यतियों को "क्रान्ति-पत्र" देते हुए उन्होंने कहा कि यदि चाहें तो गच्छाधिप धरणेन्द्र-सूरिजी इस पर सभी प्रमुख यतियों के साथ "सही" कर दें और इन कलमों पर जी-जान से आचरण करें। क्रान्ति-पत्र पर काफी बहसें हुईं, किन्तु राजेन्द्रसूरि तो अपने संकल्प पर अडिग थे, वे उसमें किंचित् परिवर्तन करने को तैयार न थे। उनकी निश्चलता का परिणाम यह हुआ कि उसे ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया गया और यतियों को अपने जीवन को तदनुरूप ढालने पर विवश होना पड़ा।

इस सम्पूर्ण क्रान्ति ने तत्कालीन श्रमण संस्कृति का रूप बदल दिया। लोग अब तक मानते थे कि यतियों का जीवन अत्यन्त औपचारिक है, समाज से उसका कोई सरोकार नहीं है। यतियों को भेंटें देने, उनकी वन्दना करने, जीवन से मेल न खाने वाले प्रवचन सुनने और उनके निर्देशों का अक्षरशः पालन करने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री वे मानते थे; किन्तु अब राजेन्द्रसूरिजी ने "यति" की नये सिरे से परिभाषा कर दी। उन्होंने यति को धर्म और संस्कृति से तो मूलबद्ध किया ही, समाज के आचार-व्यवहार से भी बाँध दिया। उन्हें कहा गया कि समाज वही करता है, जो तुम्हारे आचार में हुआ देखता है। इस तरह राजेन्द्रसूरिजी ने धर्म और समाज के बीच की टूटी कड़ी को जोड़ा और यतियों और श्रावकों के बीच सद्भावनापूर्ण सम्बन्धों की स्थापना की।

क्रान्ति-पत्र की नौ कलमों में यतियों को जो निर्देश दिये गये थे, वे अत्यन्त स्पष्ट थे। इनमें जहाँ एक ओर वर्तमान यति-जीवन की मीमांसा और वर्णन था वहीं उसकी भावी रचना के स्पष्ट संकेत थे। इस क्रान्ति ने यतियों को पालखी से उतारकर यथार्थ की जमीन पर ला खड़ा किया। उन्हें निष्काम, निर्व्यसन और अप्रमत्त जीवन की ओर उन्मुख किया। अब तक यति-जीवन खाने-पीने-सोने में बीत रहा था, राजेन्द्रसूरिजी के इस क्रान्ति-पत्र ने उसे साधना के दुर्द्धर पथ पर ला खड़ा किया।

यतियों को पहली बार ऐसा अहसास हुआ कि यति-जीवन फूलों की शैया नहीं है, तीक्ष्ण काँटों की डगर है। यह कठोर तपश्चर्या का मार्ग है, साधन-सुविधाओं का पन्थ नहीं है। जिसे औसतन आदमी के बलबूते का काम माना जा रहा था और जीवन से पलायन करने वाला कोई भी आदमी जिसमें प्रवेश पा जाता था, अब सही आदमी के लिए ही यति-जीवन के द्वार खुले रखे गये। इस नौ कलमी क्रान्ति-पत्र के स्वीकार के साथ ही राजेन्द्रसूरिजी ने जावरा में सम्पूर्ण क्रियोद्धार किया और समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया। निरलस, अप्रमत्त, निष्काम उपासना अब उनके यति-मण्डल का अनुशासन बन गया। राजेन्द्रसूरिजी की सम्पूर्ण जीवन-चर्या "क्रान्ति-पत्र" का जीवन्त उदाहरण बनी। उन्होंने उसका अक्षरशः पालन कर यह सिद्ध कर दिया कि क्रान्ति-पत्र काल्पनिक नहीं है, उसकी हर धारा

राजेन्द्र" एक ऐसा सन्दर्भ ग्रन्थ है जिसमें श्रमण-संस्कृति का शायद ही कोई शब्द-सन्दर्भ छूटा हो। शब्दमूल तो वहाँ हैं ही, शब्द-विकास भी दिया गया है। एक-एक शब्द को उसके तत्कालीन प्रचलन तक उघाड़ा गया है। यह काम विशाल था, एक व्यक्ति के बूते का नहीं था, फिर भी शब्दर्षि राजेन्द्रसूरिजी ने उसे पूरी सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। इससे जैन संस्कृति तो अक्षय्य हुई ही, भारतीय संस्कृति भी अमर हुई।

सियाणा में जिस विश्वकोश के संपादन का आरंभ हुआ था, १९०३ ई. में सूरत में उसका सफलता-पूर्वक समापन हुआ। पूरे चौदह वर्ष इस महान् कार्य में लगे। 'पाइय सद्दं-बुहि" (प्राकृतशब्दाम्बुधि) "अभिधान-राजेन्द्र" का ही एक लघु संस्करण है। इसकी रचना १८९९ ई. में हुई। यह आज भी अप्रकाशित है, और संपादन-प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रहा है।

चीरोलावासियों को एकता के अटूट सूत्र में बाँधने के बाद ही श्रीमद् को लगा जैसे उनकी जीवन-यात्रा पर अब पूर्णविराम लगना चाहता है। बड़नगर में उनका स्वास्थ्य गिरने लगा, और उन्हें ऐसा अनुभव हुआ जैसे सूर्य ने अस्ताचल का पहला शिखर छू लिया है। वे दूरदृष्टा तो थे ही अतः उन्होंने राजगढ़ पहुँच कर अनशन का संकल्प कर लिया और अपने अन्तेवासियों को अपने निकट आमन्त्रित कर कहा :**"श्रमण संस्कृति की मशाल कभी बुझने न पाये, इसे अकम्प बनाये रखो, इस कोश को प्रकाश में लाओ।"**

इसके बाद एक सूर्य जिसे भरतपुर की प्राची ने जन्म दिया था, राजगढ़ की प्रतीची में डूब गया। श्री मोहनखेड़ा तीर्थ में उनके समाधि-स्थल से आज भी उनके संदेश की प्रतिध्वनियाँ अनुगुँजित हैं। □

किसी बात पर केवल तब विश्वास करो

"सुनी हुई बात पर विश्वास न करो, परम्पराओं में विश्वास न करो क्योंकि वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आयी हैं, किसी बात पर इसलिए विश्वास न करो कि वह जनश्रुति है और बहुत लोग उसे कह रहे हैं। किसी बात में केवल इसलिए विश्वास न कर लो कि किसी प्राचीन ऋषि का लिखित वक्तव्य प्रस्तुत किया गया है। खयाली बातों में विश्वास न करो, किसी बात पर केवल इसलिए विश्वास न कर लो कि उसे तुम्हारे शिक्षकों और अग्रजों ने कहा है। किसी बात पर केवल तब विश्वास करो जब तुम उसे जांच-परख लो और उसका विश्लेषण कर लो, जब यह देख लो कि वह तर्कसंगत है, तुम्हें नेकी के रास्ते पर लगाती है और सबके लिए लाभदायक है, तब तुम उसके अनुसार ही आचरण करो।"

—अंगुत्तर निकाय; १, १८९-९०

ज्योतिष एवं श्रीमद्राजेन्द्रसूरि

[ ] मुनि जयन्तविजय "मधुकर"

सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र एवं तारकावलि इत्यादि ज्योतिश्चक्र विश्व-प्रांगण में अनादिकाल से गतिशील हैं। संक्रान्तियों में कभी इनकी रश्मियाँ घटती हैं, कभी वढ़ती हैं; कभी इनकी गति मन्द हो जाती है, कभी तेज एवं कभी इनका वल वढ़ जाता है तो कभी कम हो जाता है। इस सबका प्रभाव सर्वत्र कुछ-न-कुछ होता ही है। ज्योतिष को मुख्यतः दो भागों में बाँटा गया है : गणित और फलित। फलादेश द्वारा ज्योतिष दीपक की भूमिका का निर्वाह करता है। भविष्य के सघन अन्धकार में सावधानी की किरण इससे मिल जाती है; ज्योतिष गणित है, अन्धविश्वास नहीं; जो इसे अन्धविश्वास की भाँति मानते हैं उनकी वात अलग है किन्तु जिन मनीषियों ने इसे गणित और विज्ञान की तरह विकसित किया है, वे इसे कार्य-कारण की शृंखला से मूलवद्ध एक तर्क-संगत भूमिका पर प्रस्तुत करते हैं।

मुहूर्त-प्रकरण ज्योतिष का एक महत्त्वपूर्ण अनुभाग है। फलितादेश भी उतने ही महत्त्व का है। सम्पूर्ण दिन में व्यतीत घड़ियाँ भिन्नताओं और वैविध्यों से भरी होती हैं। इनका परिज्ञान सम्भव है; किन्तु इनके गहरे तल में उतरने के वाद ही। अनुमान की भूमि पर खड़ा ज्योतिष खतरनाक होता है, किन्तु तर्क और गणित की जमीन पर अपना पाँव जमाये ज्योतिष अधिकांशतः दिग्दर्शक होता है।

कुछ घटिकाएँ देवताओं की हैं, कुछ दानवों की, कुछ मानवों की; ब्रह्म-मुहूर्त, विजय मुहूर्त और गोधूलि-वेला इसी ओर संकेत करते हैं। प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व और पश्चात् ३०/३० मिनिट ब्रह्ममुहुर्त मध्याह्न कालोत्तर पूर्व ३०/३० मिनिट विजय मुहूर्त; तथा सूर्यास्तोत्तर-पूर्व ३०/३० मिनिट गोधूलि-मुहूर्त होता है।

ज्योतिष एक ऐसा विज्ञान है, ऐसा तथ्य-विश्लेषण, जिससे कोई भी मनुष्य अछूता नहीं रह सकता। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी समस्याएँ हैं और प्रत्येक समस्या का इस विज्ञान में समाधान सन्निहित है।

मुहूर्त-प्रकरण के विज्ञाता तत्कालीन वलावल की समीक्षा कर उनका सम्यक् निरूपण करते हैं और तदनुसार अनुकूलता या प्रतिकूलता का निर्णय देते हैं।

ज्योतिर्विज्ञान के परिज्ञान के लिए जैनाचार्यों ने संस्कृत-प्राकृत में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। "दिनशुद्धिदीपिका", "भद्रबाहु संहिता", "लग्नशुद्धि", "ज्योतिष हीर", "हीर कलश", "जैन ज्योतिष", "आरंभ-सिद्धि", "यन्त्रराज" आदि ग्रन्थ इस तथ्य के परिचायक हैं कि इस क्षेत्र में जैनाचार्यो का कितना अपूर्व योगदान रहा है।

श्रीमद् भद्रबाहु स्वामी-जैसे इस विज्ञान के परम ज्ञाता थे, जिन्होंने जन्म-पत्रिका देखते ही राजकुमार की क्षणजीवी स्थिति की घोषणा कर दी थी। भारत के सांस्कृतिक इतिहास को देखने से पता चलता है कि ज्योतिर्विज्ञान एक महत्त्वपूर्ण विज्ञान रहा है जिसे देश के विद्वानों ने निरन्तर आगे बढ़ाया है। इन समर्थ ज्योतिर्विज्ञानयों ने ग्रह-संचरण, प्रत्येक जीव के निजी जीवन, विभिन्न गतियों में मार्गी-वक्री के रूप में; सम, विषम या चर, स्थिर द्वि-स्वभाव की स्थिति में क्रूर, शान्त या सहवास जन्य स्वरूपता का समीचीन और स्पष्ट समीक्षण किया है।

श्रीमद्राजेन्द्रसूरिजी का जीवन भी इस विज्ञान से अछूता नहीं रहा। उन्होंने मात्र इसे जाना ही नहीं इसका गहन अध्ययन-मनन भी किया। उन्होंने सदैव इसका एक सहज साधन के रूप में उपयोग किया।

विक्रम संवत् १९४५ में श्रीमद् राजनगर-अहमदाबाद में थे। वहाँ वाघण-पोलस्थित श्री महावीर जिनालय की प्रतिष्ठा का आयोजन था। श्रीमद् ने प्रतिष्ठा के मुहूर्त को सदोष बताते हुए कहा : "इस प्रतिष्ठा-मुहूर्त से प्रतिकूल स्थिति बनेगी। अग्नि-प्रकोप का योग प्रतीत होता है। इसे बदल कर कोई और कर लीजिये।" आग्रही व्यक्तियों ने श्रीमद् की सलाह मानने से इनकार कर दिया। अन्ततः भयंकर अग्निकाण्ड हुआ। इस तथ्य से राजेन्द्रसूरिजी के ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान की पुष्टि होती है।

श्रीमद् का ज्योतिष के दोनों पक्षों पर अधिकार था। विक्रम संवत् १९५५ में जब आप प्रतिष्ठांजनशलाका सम्पन्न करवा रहे थे तब प्रतिपक्षी वर्ग भी अपने यहाँ उत्सव आयोजित करने के लिए तत्पर हुए। श्रीमद् ने सम्पूर्ण सद्भाव से उन्हें तथा प्रतिष्ठाकारक को समझाया कि "यह मुहूर्त उनके अनुकूल नहीं है। इसमें ग्रहगति और संगति विपरीत बैठती है।" किन्तु किसी ने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया और अपनी जिद पर अडिग रहे। अन्ततः जो दुष्परिणाम हुआ, वह सर्वविदित है। इस तरह श्रीमद् परामर्श देते थे, किसी को उसे मानने पर विवश नहीं करते थे।

श्रीमद् राजेन्द्रसूरि के सम्बन्ध में अभी पूरी तरह अनुसंधान नहीं हुआ है। उनका धार्मिक साहित्य तो काफी उपलब्ध हुआ है, किन्तु वे महासमुद्र थे; उन्होंने कहाँ, कितना और किन-किन विषयों पर लिखा है इसकी प्रामाणिक जानकारी अभी अनुपलब्ध है। ज्यों-ज्यों उनकी रचनाएँ मिलती जाती हैं, कई तथ्य प्रकट होते

जाते हैं। उनकी कई स्फुट रचनाएँ यत्र-तत्र ग्रन्थागारों में अरक्षित और अप्रकाशित पड़ी हैं। इनका व्यापक सर्वेक्षण और अध्ययन-विश्लेषण होना चाहिये। मुहूर्त-प्रकरण और फलादेश पर श्रीमद् की जो प्रगाढ़ पकड़ थी, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने सैकड़ों प्राण-प्रतिष्ठाएँ करवायी किन्तु कहीं कोई विघ्न उपस्थित नहीं हुआ। वे 'ठीक समय पर ठीक काम' करना पसन्द करते थे और इस दृष्टि से उन सारे भारतीय विज्ञानों का उपयोग करना चाहते थे जो अन्धविश्वास नहीं तर्क और गणित की धरती पर विकसित हुए थे।

उनका स्पष्ट लक्ष्य था कि ज्ञान को जनता-जनार्दन तक उसी की भाषा और उसी के सहज माध्यमों द्वारा पहुँचाया जाए। इस दृष्टि से उन्होंने कई स्तोत्र, कई वन्दनाएँ और कई ज्योतिष सम्बन्धी दोहे लिखे हैं। मुहूर्त-प्रकरण से सम्बन्धित कुछ दोहे इस प्रकार है--

"सूर्य नक्षत्र से गिनो, चउ छ नव दस आय।
तेरा वीस नक्षत्र में, रवियोग समझाय।।
प्रतिपद छठ पंचमी दसम, एकादसी तिथि होय।
बुध मंगल शशि शुक्र दिन, अश्विनी रोहिणी जोय।।
पुनर्वसु मघा तथा, हस्तविशाखा सार।
मूल श्रवण पू.-भाद्र में, कुमार योग विचार।।
दूज तीज सप्तमी तथा, द्वादशी पूर्णिम जान।
रवि मंगल बुध शुक्र में, भरणी मृगशिर मान।।
पुष्य पु. फा. चित्रा उ. षा. उ. भा. अनुराधा देख।
धनिष्ठादि नक्षत्र में, राजयोग का लेख।।
चौथ आठम चतुर्दशी, नौमि तेरस शनिवार।
गुरु कृतिका आर्द्रा उ.फा. अश्लेषा सुविचार।।
स्वाति उ. षा. ज्येष्ठा तथा शतभिषा संयोग।
रेवती नक्षत्रादि में, कहते हैं स्थिर योग।।"

योग की स्थिति को मात्र सात दोहों में वर्णित करना एक कठिन काम है, किन्तु ज्ञानवर्द्धन की दृष्टि से इसे आम आदमी के लिए सुलभ किया है।

जन्म-पत्रिका में जो कुण्डलिका बनायी जाती है, उसमें १२ स्थानों पर नियमानुसार राशि-अंकों को स्थापित किया जाता है, ताकि तत्कालीन प्रवर्तमान ग्रहों को विठाकर उनके फलादेश जाने जा सकें। व्यक्ति के जीवन में ये फलादेश मार्गदर्शक सिद्ध हो सकते हैं। श्रीमद् ने इस सन्दर्भ में कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं, जो इस प्रकार हैं--

"सातमा भवन तणो धणी, धन भवने पड्यो होय।
परण्या पूंठे धन मिले, इम कहे पण्डित लोय।।
पंचमेश धन भवन में, सुत पूंठे धनवन्त।
धन तन स्वामी एक हो, तो स्वधन भोगन्त।।
लग्न धनेश चौथे पड्या, कहे मातानी लच्छ।
क्रूर ग्रह लग्ने पड्यो, पथम कन्या दो वच्छ।।
भोम त्रिकोणे जो हुए, तो लहे पुत्रज एक।
मंगल पूजा दृष्टि सुं, होवे पुत्र अनेक।।
भोम कर्क क्रूर सातमे, पड़े भूंडी स्त्री हाथ।
भोम अग्यारमे जो पड़े, परणे नहीं धन नाथ।।
शनि चन्द्र अग्यारमे, पडे स्त्री परणे दोय।
चन्द्र भोम छट्ठे पडे, षट् कन्या तस जोय।।
अग्यारमे क्रूर ग्रह तथा, पंचम शुक्र जो थाय।
पेली पुत्री सुत पछे, माता कष्ट सुणाय।।
क्रूर गह हुए सातमे, कर्कसा पाये नार।
बुध एकलो पाँचमें, तो जोगी सिरदार।।
शनिसर दशमे पडे, वाघ चित्ताथी तेह।
मरे दशमे वली शुक्र जो, अहि डसवा थी तेह।।
राहु दसमे जो हुए, मरे अग्नि में जाण।
राजेन्द्र सूरि इम भणे, जोतक ने अहिनाण।।"

वस्तुत: फलित ज्योतिष इतना गम्भीर विषय है कि उसके मर्म को तद्विषयक विद्वान् ही समझ सकता है। इस दृष्टि से श्रीमद् की उक्त पद्य-रचना उनके तत्सम्बन्धी गम्भीर ज्ञान की द्योतक है। श्रीमद् की ज्ञान-पिपासा अबुझ थी। वे आध्यात्मिक साधना, दुर्द्धर तप, गहन अध्ययन और सामाजिक मार्गदर्शन के साथ अन्य कई विषयों का ज्ञान प्राप्त करते रहते थे। उनकी प्रवृत्ति थी दैनंदिन जीवन की हर आवश्यक प्रवृत्ति को परखना और उसे स्पष्टता के साथ औरों के लिए उपलब्ध करना। ज्योतिष-सम्बन्धी उनका ज्ञान विशद था। इतना होते हुए भी उन्होंने कभी किसी पक्ष को अपमानित नहीं किया। उनके मन में प्रतिपक्ष के लिए गहरी सम्मान भावना थी। निन्दक के लिए उन्होंने एक पद में लिखा है: "निन्दक तुं मर जावसी रे, ज्युं पाणी में लूण। 'सूरिराजेन्द्र' की सीखड़ी रे, दूजो निन्दा करेगा कोण।।" (निन्दक तू उसी तरह मर जाएगा जैसा पानी में नमक घुल जाता है। सन्तों की प्रगाढ़ मैत्री तुझे आत्मसात् कर लेगी; तुझे स्वयं में पचा लेगी। राजेन्द्रसूरि की सीख है, उनकी चिन्ता भी है, कि फिर दूसरा निन्दा कौन करेगा?)

इस तरह राजेन्द्रसूरिजी ने चिन्तन और आचार-शुद्धि के लिए प्रतिपक्ष को उत्कृष्ट समीक्षक की भूमिका में रखा है और उसे पूरा सम्मान दिया है। ज्योतिष जानने के पीछे भी उनके मन में सबके लिए यही वात्सल्य और औदार्य तरंगायित था। □

राजेन्द्रसूरि का समकालीन भारत

राजेन्द्रसूरि उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हुए। इस समय हिन्दुस्तान का आकाश परिवर्तन के कुहासे से भरा हुआ था। मुगल, मराठा, राजपूत करीब-करीब सभी अंग्रेजों की कूटनीतिक चालबजियों के आगे मत्था टेक रहे थे। आपस की फूट ने उन्हें डस लिया था। आधुनिक साधनों से लैस अंग्रेज अपनी सत्ता पुख्ता करने की हर चन्द कोशिश कर रहे थे। उन्होंने हिन्दुस्तान के सांस्कृतिक ढाँचे पर प्रहार करना आरम्भ कर दिया था। भाषा, शिक्षा, समाज, राजनीति, अर्थ और व्यापार, शिल्प और उद्योग प्राय: सभी क्षेत्रों में उन्होंने दखलन्दाजी शुरू कर दी थी। उन्होंने बड़ी योजित शैली में भारतीयों की अन्तरात्मा पर यह असर डालना आरम्भ किया था कि यूरोप की सभ्यता भारत की परम्परित, जड़ और जर्जरित सभ्यता से श्रेष्ठ है। एक ओर इस तरह का भीतरी प्रहार चल रहा था और दूसरी ओर भारत के उद्योग-धन्धों की रीढ़ तोड़ी जा रही थी। देश का कच्चा माल लगातार इंग्लैंड जा रहा था, और वहाँ के मिलशाह उसे तैयार हालत में भारत की मंडियों में ला रहे थे। स्वदेशी के प्रति लोगों के मन में घृणा के बीज बोये जा रहे थे। कुछ बुद्धिजीवी भारतीय अंग्रेजों की इस चालाकी को ताड़ गये थे। उन्होंने अंग्रेजों द्वारा देश में लाये गये साधनों का उपयोग कर देशवासियों को जगाना शुरू कर दिया था।

राजेन्द्रसूरि का जन्म राजस्थान में हुआ। राजस्थान हिन्दुस्तान का एक शूरवीर और रणबांकुरा भाग था। भरतपुर, जो राजेन्द्रसूरिजी की जन्म-स्थली थी, राजपूतों की नाक थी। उसके साथ कुछ अन्ध-विश्वास भी जुड़े हुए थे; किन्तु राजेन्द्रसूरि के जन्म के दो वर्ष पूर्व अर्थात् १८२५ में ही भरतपुर परास्त हो चुका था। भारत में प्राय: सभी क्षेत्रों में राजनैतिक निराशाओं के बावजूद सांस्कृतिक और सामाजिक नवजागरण की एक व्यापक लहर आयी हुई थी। इस सन्दर्भ में सबसे पहला नाम आता है, राजा राममोहन राय का जिन्होंने १८२८ ई. में 'ब्रह्म-समाज' की स्थापना की और भारत की अन्तरात्मा को जगाया। भारतीयों को अपने गौरवशाली अतीत की ओर प्रवृद्ध किया और अन्धी परम्पराओं तथा रूढ़ रीति-रिवाजों को तिलांजलि देने के लिए आवश्यक हवा तैयार की। यही कारण था कि १८२९ ई. में लार्ड विलियम वैंटिक को सती-प्रथा को अवैध घोषित करना पड़ा। ब्रह्म-समाज ने धर्म के क्षेत्र में जो चुनौती दी थी उसकी

संगति राजेन्द्रसूरि के "त्रि-स्तुतिक" समाज से थी। उन्होंने बहु-देववाद का विरोध किया था, इसी तरह आगे चलकर राजेन्द्रसूरि ने जैनों में प्रचलित बहुदेववाद को चुनौती दी थी। चौथी थुई को अमान्य करने के पीछे बहु-देववाद को अमान्य करने का तथ्य ही था। यद्यपि आधार भिन्न थे, किन्तु सुधार और परिवर्तन की चेतना एक ही थी। सम्पूर्ण १९ वीं शताब्दी समाजों की स्थापना की शताब्दी है। इस शताब्दी में समाज-सुधार और सांस्कृतिक फेरबदल के लिए जितने समाज और जितनी सोसायटियाँ उत्तर और दक्षिण भारत में बनीं उतनी उसके बाद शायद नहीं। इन समाजों, परिषदों, सोसाइटियों, और एसोसिएशनों का प्रमुख लक्ष्य देशवासियों को आधुनिकता से समायोजित करना और उन पर आयी नयी पराधीनता के विरोध के लिए एक नयी चेतना निर्मित करना था। इस तरह राजेन्द्रसूरि के जन्म से पूर्व ही भारत की फिज़ा सामाजिक सुधारों की गर्माहट से भरी हुई थी और कई तरह के आन्दोलन चलने शुरू हो गये थे। इस शताब्दी में उठी परिवर्तन की लहर ने कई आकार ग्रहण करना आरम्भ कर दिया था—

१. यूरोप से आती हुई सभ्यता को कुछ लोगों ने ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया; उन्हें लगा कि भारत की सभ्यता रूढ़, जर्जरित और अन्ध-विश्वासों से पटी हुई है, कहीं कुछ भी तर्क-संगत नहीं है। २. एक वर्ग ऐसा था जो भारतीय संस्कृति की महत्ता और उसके विगत गौरव को जानता था; किन्तु वह यह भी स्पष्ट देख रहा था कि किन्हीं कारणों से उसमें कुछ विकार आ गये हैं, जिन्हें दूर किया जा सकता है और नवीन तथा पुरातन के बीच एक रचनात्मक सन्तुलन बनाया जा सकता है। इस वर्ग की पृष्ठभूमि पर पुनरुद्धार की चेतना सक्रिय थी। ३. कुछ लोग समझौतावादी थे। वे कुछ यूरोप और कुछ हिन्दुस्तान के मिश्रण से एक नये ही हिन्दुस्तान को जन्म देना चाहते थे। यह वर्ग अधिक सक्रिय था। एंग्लो-इण्डियन क्रिया-कलाप इस वर्ग की लीला थे। इनका लक्ष्य आधुनिकता को पूरी तरह से स्वीकार करना तो था ही, किन्तु इनके मन में भारत के प्रति कोई असम्मान नहीं था। ४. एक वर्ग ऐसा भी था जिसे आधुनिकता ने छुआ ही नहीं था। यह पुरानी परम्पराओं में जी रहा था। यह यथास्थिति चाहता था। नहीं इच्छा थी इसकी कि कोई तब्दीली हो। जो चला आ रहा है, वह चले; नया कुछ भी क्यों हो; इसने यूरोप से आती साभ्यतिक लहर का प्रतिरोध किया। ५. इन वर्गों के अलावा एक वर्ग ऐसा भी था जो अनिश्चय और सन्देह में झूल रहा था। वह न यह करना चाहता था, न वह; मात्र दर्शक था। यह अधिक खतरनाक़ था। बाद में चलकर इसने पता नहीं किस वर्ग को स्वीकार किया; ढिलमिल प्रवृत्ति का एक ऐसा वर्ग हर युग में होता है, जिसे प्रतीक मानकर उस

युग की प्रकृति की समीक्षा कभी सम्भव नहीं होती। जो भी हो राजेन्द्रसूरिजी का समकालीन भारत भारी तब्दीलियों के बीच से गुजर रहा था।

राजनीति और समाज के क्षेत्र में जो परिवर्तन हो रहे थे, वे काफी व्यापक थे, इतने व्यापक कि उन्होंने लगभग सारे देश को चारों ओर से अपनी परिधि में समेट लिया था; किन्तु धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी कुछ परिवर्तन घटित हो रहे थे, जिनकी परिधि सीमित थी तथापि जो थे महत्त्वपूर्ण। राजेन्द्रसूरिजी प्रकृति से क्रान्ति-धर्मी थे। उन्होंने अपने युग की धार्मिक चेतना में जो विकृतियाँ देखीं उनके प्रति एक तीखा विद्रोह और असन्तोष उनमें उठा। १८४५ ई. में उन्होंने यतित्व की दीक्षा ली। यतियों का जीवन किसी समय अत्यधिक निष्कलंक और पवित्र था; किन्तु इधर की दो-तीन शताब्दियों में उसकी अराजकताएँ बढ़ीं और वह पतन की कगार पर आ गया। १८६५ ई. में जब राजेन्द्रसूरिजी को अर्थात् रत्नविजयजी को दफ्तरी के पद पर नियुक्त किया गया तब यतियों का जीवन साधन-सुविधाओं के दौर से गुजर रहा था। सामन्ती ठाट-बाट और राजसी विलास उसमें सम्मिलित हो गये थे। तत्कालीन श्रीपूज्य श्री धरणेन्द्रसूरिजी का जो विवरण मिलता है, उससे यति-जीवन की गिरावट का अन्दाज लग जाता है। १८६५ ई. तक भारत के धार्मिक क्षेत्र में कई तब्दीलियाँ हुई थीं। दयानन्द सरस्वती ने लोक कल्याण के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर दिया था। उन्होंने देश में सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति के लिए 'आर्य समाज' की स्थापना की थी। इस समाज ने देशी भाषा को महत्त्व दिया और देश की चली आती परम्पराओं के प्रति आम लोगों की मुरझाती हुई आस्था को पुनरुज्जीवित किया। उधर दक्षिण में श्री नारायण गुरु ने धार्मिक क्रान्ति का नेतृत्व किया। केरल में नीची जाति के लोगों में कई आदिम देवी-देवताओं की उपासना होती थी। इन देवी-देवताओं को उच्च-वर्ग घृणा की दृष्टि से देखता था। श्री नारायण गुरु ने बहुदेववाद को निरुत्साहित किया और स्थानीय देवी-देवताओं के स्थान पर एकेश्वरवाद के लिए लोक-मानस तैयार किया। उन्होंने मूर्तिपूजा का विरोध नहीं किया किन्तु ऐसे मन्दिरों की स्थापना की जिनमें उपासना का कोई भेदभाव नहीं था। राजेन्द्रसूरिजी का मन्दिरों की प्रतिष्ठा करवाना और उन्हें जैनमात्र के लिए सुलभ करना इसी सुर के साथ एक सुर है। यद्यपि श्री नारायण गुरु और राजेन्द्रसूरिजी के एक-दूसरे से मिलने या परस्पर विचार-विमर्श करने का कोई प्रश्न ही नहीं है तथापि यह स्पष्ट है कि तत्कालीन हिन्दुस्तान में जो धार्मिक आन्दोलन चल रहे थे उनका स्वर एक जैसा था। प्रायः सभी धार्मिक आन्दोलन कोई-न-कोई सुधार लाना चाहते थे। राजेन्द्रसूरिजी का धार्मिक आन्दोलन भी सुधारवादी था। वे यतियों में तो सुधार करना चाहते ही थे, सामाजिकों में भी क्रान्ति की भावना विकसित करना चाहते थे।

वे चाहते थे सारा जैन समाज आधुनिकता के परिवर्तन को झेले और नयी परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को समायोजित करे। भारत के प्रायः सभी धर्म यहाँ तक कि इस्लाम भी इस सुधारवादी क्रान्ति से बच नहीं पाया था। १८७७ ई. में नेशनल मोहम्मडन एसोसिएशन की स्थापना ने मुसलमानों में भी नवजागृति की एक लहर को जन्म दिया था। १८६९ ई. में जब राजेन्द्रसूरिजी की धार्मिक क्रान्ति एक स्पष्ट आकार ग्रहण कर रही थी, तब हिन्दुस्तान की धरती पर एक बड़ी शक्ति महात्मा गांधी का जन्म हुआ। सूरिजी की यति-क्रान्ति यद्यपि कहने को छोटी और एक सीमित क्षेत्र में हुई घटना थी किन्तु उसने जिन मूल्यों की रचना की थी वे महत्त्वपूर्ण थे। उनकी क्रान्ति का मूल आधार था : "पवित्र और निष्कलंक साधनों के उपयोग से ही एक निष्कलंक और निर्मल लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है, अतः लक्ष्य के अनुरूप ही माध्यम भी निर्दोष और पवित्र होना चाहिये।" जैन यति साधना तो अपरिग्रह की कर रहे थे किन्तु स्वयं महान् परिग्रही थे; उनकी साधना में अहिंसा का प्राधान्य था किन्तु वे आयुध, यहाँ तक कि तमञ्चा भी रखते थे। अतः साधनों की शुचिता पर जो बल सूरिजी ने दिया आगे चलकर महात्मा गाँधी ने भी राजनीति, अर्थ और समाज के क्षेत्र में उस पर जोर दिया। गाँधी जी हमेशा कहते रहे कि हमें "लक्ष्य के अनुरूप साधनों का ध्यान रखना चाहिये।" उनके जीवन-दर्शन में ज्यों-त्यों और जैसे-तैसे साधनों के द्वारा सिद्धि उपलब्ध करने की रियायत नहीं थी। स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया था कि साधनों की शुचिता का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाए। सूरिजी का "नौ कलमी" क्रान्ति-पत्र उनकी इसी भावना का प्रतीक है। इसके द्वारा उन्होंने यति-संस्था को ही आमूलाग्र नहीं बदला वरन् सम्पूर्ण भारतीय चरित्र को प्रभावित किया। जैनधर्म और दर्शन की जिस बुनियाद को सांसारिक प्रलोभनों और साधन-सुविधाओं की लालसा के कारण विस्मृत कर दिया गया था, सूरिजी ने उसका पुनरुद्धार किया। उनकी इस क्रान्ति ने साधुओं के साथ ही जैन सामाजिकों अर्थात् श्रावकों को भी प्रभावित किया। जैन लोग व्यापारी थे/हैं। व्यापार में साधनों की शुचिता का ध्यान आमतौर पर रखना सम्भव नहीं होता है, किन्तु सूरिजी ने इस व्यापारी कौम को भी साधनों की शुचिता की शिक्षा दी और उन्हें सादगी, सद्विचार और स्वाध्याय की दिशा में प्रवृत्त किया।

सूरिजी की क्रान्ति के पूर्व भारत में अंग्रेज रेल की पाँतें बिछा चुके थे। कई महापुरुषों ने जन्म ले लिया था, और भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम लड़ा जा चुका था। हिन्दी भाषा ने भी अपना विकास आरम्भ कर दिया था। अंग्रेजों ने कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में लन्दन विद्यापीठ की नकल पर तीन यूनिवर्सिटियों की स्थापना कर दी थी। इन यूनिवर्सिटियों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी

(शेष पृष्ठ २००-२०३ पर)

'अभिधान-राजेन्द्र-कोश' : कुछ विशेषताएँ

□ राजमल लोढ़ा

श्रीमद् राजेन्द्रसूरि ने जीवन-पर्यन्त संयम-यात्रा द्वारा धर्म-साधना की और राजस्थान, मालवा, निमाड़, गुजरात आदि प्रदेशों में परिभ्रमण कर स्व-पर कल्याण किया।

'पूर्वाचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थ तो बहुत-से हैं, लेकिन कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिससे तीर्थंकरों के उपदेशों को सर्व-साधारण तक संपूर्णता के साथ पहुंचाया जा सके'—इस अभाव की प्रतीति श्रीमद् राजेन्द्रसूरि को लगातार हो रही थी। ६३ वर्ष की वृद्धावस्था में उन्होंने इस की पूर्ति के लिए 'कोश'-रचना का दृढ़-संकल्प कर आश्विन शु. २, सं. १९४६ को सियाणा (राजस्थान) में लिखना शुरू किया। वृद्धावस्था होने के बावजूद अपने प्रतिदिन के के कार्य, प्रतिक्रमण, व्याख्यान,स्वाध्याय, प्रतिष्ठा, विहार आदि अविराम करते हुए वे निर्माण को उसकी समग्रता, वैज्ञानिकता और परिपूर्णता के साथ अग्रसर करते रहे। १४ वर्षों के अध्यवसाय के परिणाम-स्वरूप 'अभिधान राजेन्द्र कोश' सात भागों में सूरत (गुजरात) में सं. १९६० में संपन्न हुआ। यह उनके जीवन की महत्तम उपलब्धि थी।

शिल्पकार श्रीमद् राजेन्द्रसूरि ने 'कोश' को संस्कृत में सरल, सरस और सुबोध शैली में लिखा है। इसमें जैन मूलतत्त्वों का द्रव्यानुयोग, चरण-करणानुयोग, गणितानुयोग, धर्मकथानुयोग, स्याद्वाद, ईश्वरवाद, नवतत्त्व, भूगोल, खगोल आदि कोई विषय अछूता नहीं रहा है। इतना ही नहीं, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओं के आचार-विचार भी आगम-ग्रन्थों के अनुसार कैसे हों—इसका विशद विवेचन किया गया है।

'कोश' की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि मागधी भाषा के अनुक्रम से शब्दों पर विषयों का विस्तृत विवरण है। जो भी विद्यार्थी या विद्वान् अपने जिस विषय का अवलोकन करना चाहे वह इस महान् ग्रन्थ में एक ही स्थान पर प्राप्त कर सकता है। इतना ही नहीं, सर्वसाधारण की जानकारी के लिए विषय-सूची भी दी गयी है, जिससे सरलता से किसी भी तथ्य को प्राप्त करने में विलम्ब न हो। प्रत्येक विषय की प्रामाणिकता के लिए मूलसूत्रों की निरुक्ति, भाषा, चूर्णि, टीका तथा तत्संबंधी और भी प्राचीन प्रामाणिक आचार्यो द्वारा रचित ग्रन्थों के प्रमाण ग्रन्थों की नामावली के साथ प्रस्तुत किये हैं। विषय का सम्पूर्ण प्रतिपादन मौलिक रूप में

हो जाए, इस दृष्टि से जो भी कथाएं उपलब्ध हुई हैं, वे भी उसी स्थान पर संगृहीत कर दी गयी हैं, जिससे विषय की पुष्टि में सरलता का अनुभव हो जाए।

इतिहासकारों तथा पुरातत्त्ववेत्ताओं के लिए प्राचीन एवं प्रसिद्ध तीर्थों का वर्णन भी उन्हीं शब्दों के साथ परिचय रूप में करा दिया गया है और उनके सम्पूर्ण इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। तीर्थंकर भगवन्तों के पावन जीवन पर भी विशेष विवरण दिया है; उनको जिस भाव में सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है, अब तक के तमाम भावों पर भी सुन्दर विवेचन किया गया है। सैकड़ों कथाओं को भी संकलित किया गया है।

'कोश' अकारान्त क्रम में अग्रसर होता हुआ सात भागों में सम्पन्न हुआ है; प्रत्येक भाग की अपनी विशेषता और महत्ता है। इनमें जिन-जिन शब्दों पर जो-जो कथाएँ आयी हैं, उनका सुबोध शैली में विवेचन किया गया है। इस प्रकार इसमें धार्मिक, दार्शनिक और सिद्धान्त संबंधी किसी भी विषय की जानकारी प्राप्त करना हो, वह सब एक ही स्थान पर आसानी से मिल जाती है।

'अभिधान-राजेन्द्र-कोश' के इन सातों भागों को जब हम एक साथ देखते हैं तो सहज ही आश्चर्यचकित रह जाते हैं और श्रीमद् राजेन्द्रसूरि की असाधारण प्रतिभा के समक्ष नतमस्तक हो जाते हैं। उनकी अभिलाषा थी कि यह 'कोश' उनके सम्मुख मुद्रित होकर संसार के विद्वानों के सामने प्रस्थापित हो जाए, किन्तु उनकी यह इच्छा पूरी नहीं हो सकी। उस जमाने में मुद्रण की इतनी विशद और द्रुतगामी व्यवस्था नहीं थी, हैण्ड-प्रेस, जो आज प्रूफ निकालने के काम आता है. उस हैण्ड-प्रेस पर इस 'अभिधान राजेन्द्र-कोश' का मुद्रण-कार्य आज से ६० वर्ष पूर्व हुआ था। वे तो 'कोश' का एक प्रथम प्रूफ ही देख पाये थे। □

"शब्द एक नाना अरथ, मोतिन कैसो दाम।
जो नर करिहैं कण्ठ सो, ह्वै हैं छवि के धाम॥

—अनेकार्थ तिलक

श्रीमद् राजेन्द्रसूरि और पाँच तीर्थ

यहाँ संक्षेप में उन पाँच तीर्थों की महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय जानकारी प्रस्तुत है, जिनका श्रीमद् राजेन्द्रसूरि ने जीर्णोद्धार किया, प्राण-प्रतिष्ठा की और जिन्हें सर्वांगीण विकास की दिशा प्रदान की।

१. कोरटा तीर्थ

कोरंटनगर, कनकापुर, कोरंटपुर, कणयापुर और कोरंटी आदि नामों से इस तीर्थ का प्राचीन जैन साहित्य में उल्लेख मिलता है। यह राजस्थान में अहमदाबाद-दिल्ली रेल्वे लाइन पर स्थित जवाई बांध स्टेशन से बारह मील दूर है। यहाँ चार जिन मन्दिर हैं, जिनकी व्यवस्था श्रीमद् राजेन्द्रसूरि की प्रेरणा से स्थापित श्री जैन पेढ़ी करती है—

(१) **श्री महावीर मन्दिर** : कोरटा के दक्षिण में स्थित यह मन्दिर प्राचीन सादी शिल्पकला का नमूना है। इसका पुनरुद्धार श्रीमद् राजेन्द्रसूरि की प्रेरणा से किया गया, जिन्होंने महावीर भगवान की नूतन प्रतिमा को प्रतिष्ठित किया।

(२) **श्री आदिनाथ मन्दिर** : यह मन्दिर सन्निकटस्थ धोलागिरि की ढालू जमीन पर स्थित है। इसमें मूलनायकजी की प्रतिमा के दोनों ओर विराजित प्रतिमाएँ श्रीमद् राजेन्द्रसूरि द्वारा प्रतिष्ठित नूतन बिम्ब हैं।

(३) **श्री पार्श्वनाथ मंदिर** : यह जिनालय गाँव के मध्य में है। इसमें श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान है, जिनकी प्राण-प्रतिष्ठा श्रीमद् राजेन्द्र सूरि ने की।

(४) **श्री केशरियानाथ का मन्दिर** : प्राचीन श्रीवीर मन्दिर के कोट के निर्माण-कार्य के समय वि. सं. १९११ में जमीन के एक टेकरे को तोड़ते समय श्वेत वर्ण की पाँच फीट विशालकाय श्रीआदिनाथ भगवान की पद्मासनस्थ और इतनी ही बड़ी श्री सम्भवनाथ तथा श्री शान्तिनाथ की कायोत्सर्ग मनोहर एवं सर्वांग सुन्दर अखण्डित दो प्रतिमाएँ प्राप्त हुई थीं। इन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठांजन शलाका सं. ११४३ में हुई थी। कोरटा के श्री संघ ने श्रीमद् राजेन्द्रसूरि की

प्रेरणा से यह विशालकाय भव्य और मनोहर मन्दिर बनवाया है। प्रतिष्ठा-महोत्सव सं. १९५९ की वैशाख शु. ३० को श्रीमद् राजेन्द्रसूरि के कर-कमलों से सम्पन्न हुआ।

२. श्री माण्डवा तीर्थ

माण्डवपुर नामक यह ग्राम जोधपुर से राणीखेड़ा जाने वाली रेल्वे के मोदरा स्टेशन से २२ मील दूर उत्तर-पश्चिम में चारों ओर रेगिस्तान से घिरा हुआ है। वि. सं. ७वीं शताब्दी में बेसाला कस्बे में एक विशाल सौधशिखरी जिनालय था। नगर पर मेमन डाकुओं के नियमित हमले से लोग अन्यत्र जा बसे। डाकुओं ने मन्दिर तोड़ डाला, लेकिन प्रतिमा को किसी प्रकार बचा लिया गया। जन-श्रुति के अनुसार कोतमा के निवासी पालजी प्रतिमाजी को एक शकट में विराजमान कर ले जा रहे थे कि शकट भांडवा में जहाँ वर्तमान में चैत्य है, आकर रुक गया। अनेकविध प्रयत्न करने पर भी जब गाड़ी नहीं चली तो सब निराश हो गये। रात्रि में अर्द्ध जागृतावस्था में पालजी को स्वप्न आया कि प्रतिमा को इसी स्थान पर चैत्य बनवाकर उसमें विराजमान कर दो। स्वप्नानुसार पालजी संघवी ने सं. १२३३ में यह मन्दिर निर्माण कर प्रतिमा महोत्सव पूर्वक विराजमान कर दी।

श्रीमद् राजेन्द्रसूरि जब आहोर से संवत् १९५५ में इधर पधारे, तो समीपवर्ती ग्रामों के निवासी श्रीसंघ ने उक्त प्रतिमा को यहाँ से उठाकर अन्यत्र विराजमान करने की प्रार्थना की; लेकिन श्रीमद् राजेन्द्रसूरि ने प्रतिमा को यहाँ से नहीं उठाने और इसी चैत्य को विधिपूर्वक पुनरुद्धार कार्य सम्पन्न करने को कहा। उन्होंने सारी पट्टी में भ्रमण कर जीर्णोद्धार की प्रेरणा दी। फलस्वरूप विलम्ब से इसकी प्रतिष्ठा का महा-महोत्सव सं. २०१० में सम्पन्न हो सका। वर्तमान में मन्दिर के तीनों ओर विशालकाय धर्मशाला बनी हुई है। मन्दिर में मूलनायकजी के दोनों ओर की सब प्रतिमाजी श्रीमद् राजेन्द्रसूरि के द्वारा प्रतिष्ठित हैं।

३. श्री स्वर्णगिरि तीर्थ, जालोर

यह प्राचीन तीर्थ जोधपुर से राणीवाड़ा जाने वाली रेल्वे के जालोर स्टेशन के समीप स्वर्णगिरि नामक प्रख्यात पर्वत पर स्थित है। नीचे नगर में प्राचीन-अर्वाचीन १३ मन्दिर हैं। पर्वत पर किले में तीन प्राचीन और दो नूतन भव्य जिन मन्दिर हैं। प्राचीन चैत्य यक्षवसति (श्री महावीर मन्दिर), अष्टापदावतार (चौमुख) और कुमार विहार (पार्श्वनाथ चैत्य) हैं।

कालान्तर में इन सब मन्दिरों में राजकीय कर्मचारियों ने राजकीय युद्ध-सामग्री आदि भर कर इनके चारों ओर काँटे लगा दिये थे। विहार करते हुए

श्रीमद् राजेन्द्रसूरि वि. सं. १९३२ के उत्तरार्ध में जालोर पधारे थे। उनसे इन जिनालयों की दुर्दशा नहीं देखी गयी। सं. १९३३ का वर्षाकाल भी जालोर में करने का निश्चय किया गया। श्रीमद् राजेन्द्रसूरि के दृढ़ निश्चय, दीर्घकालीन तपस्या और तत्परता के परिणामस्वरूप तत्कालीन राजा ने स्वर्णगिरि के मन्दिर जैनों को सौंप दिये। श्रीमद् राजेन्द्रसूरि ने इन मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया और सं. १९३३ में महामहोत्सव पूर्वक प्रतिष्ठा-कार्य भी सम्पन्न किया।

४. तालनपुर तीर्थ

इस स्थल के तुंगीयापुर, तुंगीयापत्तन और तारण (तालन) पुर—ये तीन नाम हैं। यह तीर्थ अलीराजपुर से कुक्षी (धार) जाने वाली सड़क की दाहिनी ओर स्थित है।

यह तीर्थ बहुत प्राचीन माना जाता है। सं. १९१६ में एक भिलाले के खेत से श्री आदिनाथ विम्व आदि २५ प्रतिमाएँ प्राप्त हुईं, जिन्हें समीपस्थ कुक्षी नगर के जैन श्रीसंघ ने विशाल सौधशिखरी जिनालय बनवाकर विराजमान कीं। प्रतिमाओं की बनावट से ज्ञात होता है कि ये प्रतिमाएँ लगभग एक हजार वर्ष प्राचीन हैं।

यहाँ दो मन्दिर हैं। सौधशिखरी जिनालय के पास ही श्री गौड़ी पार्श्वनाथ का मन्दिर है। इस प्रतिमा को सं. १९५० में महोत्सवपूर्वक श्रीमद् राजेन्द्रसूरि ने प्रतिष्ठित की।

५. श्री मोहनखेड़ा तीर्थ

धार से पश्चिम में १४ कोस दूर माही नदी के दाहिने तट पर राजगढ़ नगर है, यहाँ से ठीक एक मील दूर पश्चिम में श्री मोहनखेड़ा तीर्थ है। यह तीर्थ सिद्धाचल शिव-वन्दनार्थ संस्थापित किया गया है। भगवान आदिनाथ के विशाल जिनालय की प्रतिष्ठा सं. १९४० में श्रीमद् राजेन्द्रसूरि द्वारा महोत्सवपूर्वक की गयी। इस मन्दिर के मूलनायक की प्रतिमा श्री आदिनाथ भगवान की है, जो सवा हाथ बड़ी श्वेत वर्ण की है।

यहीं श्रीमद्‌राजेन्द्रसूरि की समाधि है, जिसमें उनकी प्रतिमा स्थापित की गयी है। मन्दिर की भित्तियों पर उनका संपूर्ण जीवन उत्कीर्ण करने की योजना भी है।

इस तीर्थ के मुख्य मन्दिर का पुनर्निर्माण करने की योजना वर्तमानाचार्य श्रीमद् विजयविद्याचन्द्रसूरि की प्रेरणा से तैयार की गयी है, जिसके अनुसार लगभग २५ लाख रुपये व्यय किये जायेंगे। शिलान्यास विधिवत् १९ जून, ७५ को श्रीमद्‌विजय-विद्याचन्द्र सूरि ने संपन्न की। □

साहित्यर्षि श्रीमद् राजेन्द्रसूरि

☐ मदनलाल जोशी

पुण्यमयी भारत भूमि सनातन काल से ऐसे साधनाशील सत्पुरुषों को जन्म देती आयी है, जिन्होंने समय-समय पर अपने तप:पूत आचरण द्वारा न केवल भारत का अपितु सम्पूर्ण विश्व का कल्याणमय मार्गदर्शन किया है। यही कारण है कि यहाँ त्याग, तपस्या, सत्य, अहिंसा, ज्ञान, कर्म, भक्ति, दया एवं औदार्य आदि सत्तत्व, ऐसे ही महान् साधकों एवं तपस्वियों के माध्यम से इस प्रकार पल्लवित एवं सुफलित हुए हैं कि जिनके शाश्वत प्रकाश में नैष्ठिक मानव-जीवन का सही लक्ष्य प्राप्त करने में अपूर्व सफल रहा है।

'अभिधान राजेन्द्र कोश' जैसे विश्व-कोशके रचयिता जैनाचार्य श्रीमद्राजेन्द्र-सूरीश्वरजी इसी भारत भूमि के इस युग के ऐसे महान् साधक एवं तपोनिष्ठ आचार्य हुए हैं, जिन्होंने अपनी नैष्ठिक साधना तथा आत्मोन्मुख आराधना के द्वारा संयम के मार्ग पर अनवरत चलते हुए 'चरैवेति चरैवेति' सिद्धान्त को आत्मसात् कर त्याग, तपस्यादि सत्तत्वों को जिस रूप में सिञ्चित किया, आज भी उनका दर्शन आत्मदर्शन की ओर प्रेरित करने की पूर्ण क्षमता रखता है।

राजस्थान की वीरप्रसू भूमि भरतपुर में विक्रम संवत् १८८३, पौष शुक्ला सप्तमी, गुरुवार को मङ्गलमय मुहूर्त में जन्म लेकर असमय में ही माता-पिता से वंचित हो, अपनी ऐकान्तिक स्थिति में जिस बालक के मानस-पटल पर विवेकजन्य चिन्तन का ऐसा सूर्योदय हुआ कि जिसके पावन प्रकाश में सहसा उसने सुना कि "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत"—उठो, जागो एवं सत्तत्वों को प्राप्त कर ज्ञान की अराधना करो। फलत: शनै:शनै: उसे इस नश्वर संसार की क्षणभंगुरता एवं असारता का आभास होने लगा। परिणाम यह हुआ कि जिस तारुण्य के प्रथम सोपान पर पाँव रखकर मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है, उसी तरुणाई में अपनी २२ वर्ष की आयु में इस नवयुवक ने सांसारिक भव-पाश से सर्वथा मुक्त होकर वि. सं. १९०४ वैशाख शुक्ल पंचमी को तत्कालीन आचार्य श्री प्रमोदसूरिजी के ज्येष्ठ गुरुभ्राता श्री हेमविजयजी के करकमलों से यतिदीक्षा ग्रहण की एवं "रत्नविजय" के रूप में नवीन किन्तु सदादर्शमय पवित्र पन्थ का पथिक बना दिया जो आगे चलकर श्री राजेन्द्रसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यति-अवस्था में रहते हुए थोड़े ही समय में आपने संस्कृत-प्राकृत के विविध ग्रन्थों के अध्ययन के साथ छन्द, व्याकरण, ज्योतिष, न्याय, निरुक्त एवं अलंकारादि विषयों का भी सुचारु अध्ययन किया। तापश्चात् तत्कालीन श्रीपूज्य देवेन्द्रसूरि के समीप रहकर आप विशिष्टरूप से जैनागमों की विशद विवेचना के साथ आराधना करने लगे।

श्री देवेन्द्रसूरि के पश्चात् उनके पट्ट पर उन्हीं के शिष्य श्री धीरविजयजी धरणेन्द्रसूरि के नाम से आसीन हुए, जिनके समीप आप आरम्भ से ही रहा करते थे. किन्तु एक दिन वि. सं. १९२३ में जब श्री धरणेन्द्रसूरि का चातुर्मास घाणेराव (राजस्थान) में था. तब शिथिलाचार को देखकर आप वहाँ से सीधे आहोर-मारवाड़ आ गये. जहाँ आपके गुरु श्री प्रमोदसूरिजी ने आप में सच्चे त्याग एवं संयम के साथ पवित्र साधुत्व के दर्शन कर, साथ ही आपकी विद्वता से प्रभावित हो, आपको 'सूरिपद' प्रदान करके स्वतन्त्र रूप से श्रीपूज्य बना दिया। इस प्रकार श्रीपूज्य जैसे पद को पाकर भी आप पूर्णतया आश्वस्त नहीं हो गये एवं वि. सं. १९२५ के अपने जावरा के चातुर्मास में आत्म-चिन्तन करते हुए एक दिन जावरा नगर के बाहर एक वट-वृक्ष के नीचे श्रीपूज्य के अनुरूप किन्तु साधुत्व के विपरीत आडम्बर के रूप में जितने भी अलंकार थे (पालकी, छत्र, चामर, छड़ी, गोटा आदि) सबका परित्याग कर दिया एवं इस प्रकार परम्परागत शैथिल्य प्रवृत्ति का समूलोच्छेदन करते हुए आपने क्रियोद्धार किया। वहीं से आप श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। (जावरा के उस क्रियोद्धार-स्थल वटवृक्ष के समीप 'श्री राजेन्द्रसूरि स्मृति-मन्दिर' के रूप में भव्य स्मारक का निर्माण हो गया है जिसकी प्रतिष्ठा वर्तमानाचार्य श्रीमद्विजयविद्याचन्द्रसूरिजी के द्वारा गत मार्गशीर्ष शु. पंचमी वि. सं. २०३० को सम्पन्न हो चुकी है।)

ऐसे परम त्यागी, आदर्श संयमी, सुदृढ़ महाव्रती एवं प्रखर प्रतिभाशाली, प्रकाण्ड विद्वान् जैनाचार्य श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरि का वर्चस्वशील व्यक्तित्व एवं विद्वज्जनाराध्य विशिष्ट वैदुष्य समुद्र के समान अतल है, जिनका वर्णन मात्र शब्दों में सर्वथा असम्भव ही है, पुनरपि उनके द्वारा रचित साहित्य का यथामति यत्किञ्चिद्दर्शन करने के उपरान्त अन्तःप्रसूत जिन भावों ने प्रेरणा प्रदान की, उसीके फलस्वरूप यहाँ कतिपय शब्द-सुमन समर्पित करने का प्रयास मात्र किया जा रहा है।

श्रीमद्राजेन्द्रसूरि वस्तुतः इस युग के महान् क्रान्तिकारी एवं युगस्रष्टा आचार्य होने के साथ ही प्राकृत एवं संस्कृत के तलस्पर्शी विशिष्ट विद्वान् तथा अप्रतिम साहित्यपि हो गये हैं। यहाँ मैं आचार्यप्रवर के उत्कृष्ट साधनाशील साहित्यिक जीवन के सम्बन्ध में ही कुछ निवेदन करने का प्रयास कर रहा हूँ, जिससे पाठक यह जान सकें कि अपने साध्वाचार के समस्त नियमों का सांगोपांग परिपालन करते हुए अपने गच्छ के दायित्व का पूर्णतया निर्वाह करने के साथ ही श्री राजेन्द्र सूरिजी ने किस प्रकार साहित्य की सेवा करते हुए अपने साधनाशील जीवन में अर्जित ज्ञान का 'वहुजनहिताय, वहुजन सुखाय' सदुपयोग किया है।

वैसे परम विद्वान् आचार्यश्री ने अपने जीवन में लगभग ६१ ग्रन्थों की रचना की है, जो विविध दृष्टिकोणों से स्वयं में महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। अपने इन ६१ ग्रन्थों में आपके द्वारा रचित 'अभिधान राजेन्द्र कोश' विश्व-साहित्य की वह

अमूल्य निधि है, जिसकी समानता आज तक कोई ग्रन्थ नहीं कर सका। भारत ही नहीं, अपितु सुदूर विदेशों में भी जिस 'अभिधान राजेन्द्र कोश' की प्रशंसा की जाती रही हो, वस्तुतः वह ग्रन्थ अपूर्व एवं महतो महीयान् ही कहा जा सकता है, इसमें सन्देह नहीं।

आचार्यप्रवर ने इस ग्रन्थराज की रचना का शुभारम्भ सियाणा (राजस्थान) में वि. संवत १९४६ आश्विन शु. द्वितीय के दिन शुभ मुहूर्त में किया एवं सूरत (गुजरात) में वि. सं. १९६० चैत्र शु. त्रयोदशी के दिन इसकी समाप्ति की। इस प्रकार अनवरत साढ़े चौदह वर्षों तक आचार्यश्री ने साहित्यिक साधना करते हुए विश्व के सम्मुख इस ग्रन्थराज को प्रस्तुत करने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। सूरिप्रवर का यह ग्रन्थरत्न विशाल सात भागों में विभक्त है, इसमें अकारानुक्रम से जैनागमों की अर्धमागधी भाषा के शब्दों का इस रूप में संकलन किया गया है कि प्रत्येक शब्द के साथ उसका संस्कृत में अनुवाद, लिङ्ग, व्युत्पत्ति, अर्थ तथा मूल सूत्रों में आये हुए तत्तत् शब्दों का सूत्रानुसार विशद विवेचना आदि समस्त सन्दर्भों की जानकारी इस प्रकार दी गयी है कि केवल एक शब्द के देखने मात्र से प्रत्येक आगम एवं सूत्र में आये हुए उस शब्द से सम्बन्धित समस्त विषयों का सन्दर्भसहित ज्ञान सुविधापूर्वक हो सकता है।

इस प्रकार श्री राजेन्द्रसूरि द्वारा रचित यह 'कोश' विश्वसाहित्य की अनुपम निधि के रूप में सिद्ध हुआ है। यह महाकोश भारत के प्रायः समस्त विश्वविद्यालयों एवं सुप्रसिद्ध समृद्ध पुस्तकालयों की शोभा बढ़ाते हुए जहाँ एक ओर विद्वज्जनों, शास्त्रानुसन्धानकर्त्ताओं एवं जिज्ञासुजनों की शंकाओं का समाधान करता है, वहीं लुप्तप्राय अर्धमागधी भाषा को पुनरुज्जीवित करने के साथ ही उसकी अमरता भी सिद्ध करता है।

यही कारण है कि भारतीय विद्वानों के साथ ही विदेशों के कई लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों ने भी मुक्त कण्ठ के इस ग्रन्थराज की प्रशंसा की है।

इस ग्रन्थराज 'अभिधान राजेन्द्र' के अतिरिक्त (सात भागों में विभक्त जिसकी पृष्ठ संख्या दस हजार से भी अधिक है) आचार्य श्री ने 'पाइय सद्दम्बुही' (प्राकृत शब्दाम्बुधि), प्राकृत व्याकरण, कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी, कल्पसूत्रबालावबोध, प्राकृत शब्द रूपावली, श्रीतत्वविवेक, प्रश्नोत्तर पुष्पवाटिका, कमल-प्रभासूर्योदय, त्रैलोक्य दीपिका यन्त्रावली, षड्द्रव्यविचार आदि प्राकृत-संस्कृत के ६१ ग्रन्थों की रचना कर साहित्य-श्री को अधिक समृद्ध किया है। इन ग्रन्थों में से २६ ग्रन्थ अभी भी अप्रकाशित हैं। अपेक्षा है कि आचार्यश्री के इन समस्त अप्रकाशित ग्रन्थों का क्रमशः प्रकाशन किया जाए, जिससे विद्वज्जनों के साथ ही उनके माध्यम से सर्वसाधारण को उनका लाभ मिल सके।

श्रीमद् राजेन्द्रसूरि की पट्ट-परम्परा में वर्त्तमानाचार्य श्रीमद् विजयविद्याचन्द्र-सूरीश्वरजी साहित्य के प्रति विशिष्ट रुचि रखते हुए रससिद्ध साहित्यकार एवं कवि हैं। आपने पार्श्वनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ आदि काव्यों की रचनाएँ की हैं एवं अभी भी इस साहित्यिक अध्यवसाय में आप संलग्न हैं। आशा है आपसे कि आपके तत्वावधान में आचार्य श्रीराजेन्द्रसूरि के अप्रकाशित ग्रन्थों का शीघ्र ही प्रकाशन हो। □

जन्म-मरन बीच देख अन्तर नहीं ।
दच्छ और वाम यूँ एक आहीं ॥

—कबीर

परिशिष्ट १ : श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय आचार्य-परम्परा

सर्वश्री १. सुधर्मास्वामी, २. जम्बूस्वामी, ३. प्रभवस्वामी, ४. शय्यंभव स्वामी, ५. यशोभद्रसूरि, ६. संभूतिविजय, भद्रबाहुस्वामी; ७. स्थूलभद्र स्वामी, ८. आर्यसुहस्ती सूरि; आर्य महागिरि; ९. सुस्थितसूरि, सुप्रतिबद्धसूरि; १०. इन्द्रदिन्नसूरि, ११. दिन्नसूरि, १२. सिंहगिरिसूरि, १३. वज्रस्वामी, १४. वज्रसेनसूरि, १५. चन्द्रसूरि, १६. समन्तभद्रसूरि, १७. वृद्धदेवसूरि, १८. प्रद्योतनसूरि, १९. मानदेवसूरि, २०. मानतुङ्गसूरि, २१. वीरसूरि, २२. जय देवसूरि, २३. देवानन्दसूरि, २४. विक्रम सूरि, २५. नरसिंहसूरि, २६. समुद्रसूरि, २७. मानदेवसूरि, २८. विबुधप्रभसूरि, २९. जयानन्द सूरि, ३०. रविप्रभसूरि, ३१. यशोदेवसूरि, ३२. प्रद्युम्नसूरि, ३३. मानदेवसूरि, ३४. विमल चन्द्रसूरि, ३५. उद्योतनसूरि, ३६. सर्वदेवसूरि, ३७. देवसूरि, ३८. सर्वदेवसूरि, ३९. यशोभद्रसूरि, नेमिचन्द्रसूरि; ४०. मुनिचन्द्रसूरि, ४१. अजितदेवसूरि, ४२. विजयसिंह सूरि, ४३. सोमप्रभसूरि, मणिरत्नसूरि; ४४. जगच्चन्द्रसूरि, ४५. देवेन्द्रसूरि, विद्यानन्दसूरि; ४६. धर्मघोषसूरि, ४७. सोमप्रभसूरि, ४८. सोमतिलकसूरि, ४९. देवसुन्दरसूरि, ५०. सोमसुन्दर सूरि, ५१. मुनिसुन्दरसूरि, ५२. रत्नशेखरसूरि, ५३. लक्ष्मीसागर सूरि, ५४. सुमतिसाधुसूरि, ५५. हेमविमलसूरि, ५६. आनन्द विमलसूरि, ५७. विजयदानसूरि, ५८. हीरविजयसूरि, ५९. विजयसेनसूरि, ६० विजयदेवसूरि, विजयसिंहसूरि, ६१. विजयप्रभसूरि, ६२. विजयरत्नसूरि, ६३. विजयक्षमासूरि, ६४. विजयदेवेन्द्रसूरि, ६५. विजयकल्याण सूरि, ६६. विजयप्रमोदसूरि, ६७. विजयभूपेन्द्रसूरि, ७०. विजययतीन्द्र सूरि ७१. विद्याचन्द्रसूरि ।

परिशिष्ट २ : अभिधान-राजेन्द्र-कोश : सन्दर्भ ग्रन्थ

१. अङ्ग-चूलिका, २. अणुत्तरोववाई सूत्र सटीक, ३. अनुयोगद्वार सूत्र सटीक, ४. अनेकान्तजय पताकावृत्ति विवरण, ५. अन्तगडदशाङ्ग सूत्र, ६. अष्टक यशोविजयकृत सटीक, ७. आचाराङ्गसूत्र सटीक, ८. आवश्यकचूर्णि, ९. आवश्यकमलयगिरि (प्रथम खण्ड), १०. आवश्यकमलयगिरि (द्वितीय-खण्ड), ११. आतुरप्रत्याख्यान पयन्ना टीका, १२. आवश्यक कथा, १३. आवश्यक वृहत्वृत्ति, १४. उत्तराध्ययन सूत्र, १५. उपासकदशाङ्ग सूत्र सटीक, १६. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, १७. एकाक्षरीकोष, १८. ओघनिर्युक्ति सटीक, १९. औपपातिकसूत्र वृत्ति, २०. कर्मग्रन्थ सटीक, २१. कर्म प्रकृति सटीक, २२. कल्पसुबोधिका सटीक, २३. पाइयलच्छीनाममाला कोश, २४. गच्छाचार-पयन्ना टीका, २५. चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक, २६. जैन गायत्री व्याख्या, २७.

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र सटीक, २८. ज्ञाताधर्मकथासूत्र सटीक, २९. जीवाभिगम सूत्र सटीक, ३०. जीवकल्प वृत्ति, ३१. जीवानुशासन सटीक, ३२. जैन इतिहास, ३३. ज्योतिष्करण्डक सटीक, ३४. ढुण्ढी (प्राकृत व्याकरण) टीका, ३५. तन्दुलवयाली पयन्ना टीका, ३६. तित्थुगाली पयन्नामूल, ३७. दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र-वृत्ति, ३८. दर्शनशुद्धि सटीक, ३९. दशवैकालिक सूत्र, ४०. दशपयन्नामूल, ४१. द्रव्यानुयोग तर्कणा सटीक, ४२. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका (बत्तीस-बत्तीसी) सटीक, ४३. द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, ४४. देशी नाममाला सटीक, ४५. धर्म-संग्रह सटीक, ४६. धर्मरत्न प्रकरण सटीक, ४७. नयोपदेश सटीक, ४८. नन्दीसूत्र सवृत्ति, ४९. निरयावली सूत्र सटीक, ५०. निशीथ सूत्र सचूर्णि, ५१. पञ्चकल्पचूर्णि, ५२. पञ्चकल्प भाष्य, ५३. पञ्चाशक सटीक, ५४. पञ्चवस्तुक सटीक, ५५. पञ्च-संग्रह सटीक, ५६. पञ्चसूत्र सटीक, ५७. प्रवचनसारोद्धारटीका, ५८. प्रवचनसारोद्धार मूल, ५९. प्रतिमाशतक सूत्र सटीक, ६०. प्रश्न व्याकरण सूत्र सटीक, ६१. प्रज्ञापना सूत्र सटीक, ६२. प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार सूत्र, ६३. पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति, ६४. पिण्ड निर्युक्ति मूल, ६५. पाक्षिक सूत्र सटीक, ६६. प्राकृत व्याकरण, ६७. भगवती सूत्र सटीक, ६८. महानिशीथ सूत्र मूल, ६९. मण्डल-प्रकरण सवृत्ति, ७०. योगबिन्दु सटीक, ७१. रत्नाकरावतारिका वृत्ति, ७२. राज प्रश्नीय (रायपसेणी) सटीक, ७३. ललितविस्तरा वृत्ति, ७४. लघु प्रवचन-सार मूल, ७५. लघु क्षेत्र समास प्रकरण, ७६. व्यवहार सूत्र अक्षरार्थ, ७७. वाचस्प-त्यभिधान कोश, ७८. व्यवहार सूत्र वृत्ति, ७९. विविध तीर्थ कल्प, ८०. वृहत्कल्पवृत्ति सभाष्य, ८१. विशेषावश्यक सभाष्य सवृहद्वृत्ति, ८२. विपाकसूत्र सटीक, ८३. श्रावक धर्म प्रज्ञप्ति सटीक, ८४. षोडशप्रकरण सटीक, ८५. समवायाङ्ग सूत्र सटीक, ८६. संथारगपयन्ना सटीक, ८७. संसक्तनिर्युक्ति मूल, ८८. संघाचार भाष्य, ८९. सत्तरिस-यठाणा वृत्ति, ९०. सन्मतितर्क सटीक, ९१. स्थानाङ्ग सूत्र सटीक, ९२. स्याद्वादमञ्जरी सटीक, ९३. सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक, ९४. सूत्रकृताङ्ग सूत्र सटीक, ९५. सेन-प्रश्न, ९६. हरिभद्राष्टक सटीक, ९७. हरिप्रश्न। (अभिधान राजेन्द्र कोश; भाग–१; प्रस्तावना; पृ. ४५)। □

परिशिष्ट ३ : श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वर के विविध स्थानीय मूर्ति-लेख

१. भूती (राज.)

वाणवलिवीन्दुवर्षे पोषमासे श्वेतपक्षे त्रितीयायां तिथौ गुरुवासरे विश्व-पूज्य प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरस्य बिम्बं शा गुलाबचन्द सुत सूरजमल हिम्मत-मल पुखराज धनराज, मेघराज भ्रातृभिः कारितं, प्रतिष्ठितं।

२. नयागांव

सं. २०२७ माघ शु. ६. चन्द्रवासरे नयागांवस्थ पीत्तलीया मांगीलाल शान्ति-लाल चत्तरसिंगेभ्यः श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरबिम्वं भरापितं प्राणप्रतिष्ठाकृन्ता च श्रीमद्विद्याचन्द्रसूरिणा सुधर्मगणेदशपुरे।

३. उज्जैन

अगन गुणाकाशोष्ठ प्रमिते। वैक्रमे मार्ग शुक्ला ५ शुक्रवासरे क्रियोद्धारक नवयुग प्रवर्त्तक गुरुदेव प्रभुश्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वराणां प्रतिमा का, अजमेर वा. लोढ़ा सौभागमल श्रेयसे शान्ताश्राविकया कृ. प्रा. जावरा नगरे श्रीमद्विजयविद्या-चन्द्रसूरिभिः।

४. खाचरौद

सं. २०३१ वैशाख सुदि ७ रविवार खाचरौद निवासी भटेवरा जेठमल पन्नालालेन श्रीमद्राजेन्द्रसूरिविम्वं निर्मापितं कृता च प्राणप्रतिष्ठा श्रीमद् विद्या-चन्द्रसूरेरादेशात् मुनि जयन्तविजयेन खाचरौद नगरे शुभम्।

५. खाचरौद

विक्रम संवत् १९९८ मार्गशीर्ष सिते दशम्यां भृगुवासरे बागरा निवासिना शा. वन्नाजी खुशालाभिध सुश्रावकेण इन्दौरपुरी श्रीसंघार्थे श्रीमद्विजयराजेन्द्र-सूरीश्वर सुविम्वं निर्माप्य बागरा संघ कृतोत्सवे सौधर्मवृहत्तपागच्छीय श्रीविजय-यतीन्द्रसूरि करकमलेन तत्प्राणप्रतिष्ठा कारिता।

६. खाचरौद

श्री वि. संवत् १९८१ ज्येष्ठ सित २ बुधवारे खाचरौद नगर वास्तव्य ओसवंशीय लोढा ऊँकार सुत रखबचन्द सोभागमल्लेन जैनाचार्य श्रीमद्विजयराजेन्द्र-सूरीश्वरविम्वं कारितं प्रतिष्ठितं च श्री विजयभूपेन्द्रसूरिणा राजगढ़ नगरे श्री सौधर्मवृहत्तपागच्छे।

७. जावरा

सं. १९८९ मार्गशीर्ष शुक्लैकादश्याम् गुरौ भट्टारक श्रीमद्‌विजयराजेन्द्र-सूरीश्वरस्य मूर्तेः जावरा वास्तव्य दल्लाजी जडावचन्द्रेण अंजनशलाका प्रतिष्ठा कारिता प्रतिष्ठितं धनचन्द्रसूरि शिष्येन महोपाध्याय मुनितीर्थ विजयमुनि जय-विजयेन ।

८. जावरा

विक्रम सं. २०३० वर्षे मार्गशीर्ष पंचमी शुक्रवासरे नवयुग प्रवर्तक क्रियो-द्धारक गुरुदेव प्रभुश्रीमद् राजेन्द्रसूरीश्वरस्यविम्वं धानेरा वा. धनराज श्रेय से तस्य स्त्रिया धापु श्राविकया डाह्यालाल रमणलालादि पुत्र परिवार सह ·········· प्रतिष्ठां श्रीमद्‌विजय विद्याचन्द्रसूरिणा, जावरा नगरे।

९. सियाणा (राज.)

विक्रम सं. २००० माघ वासिते ६ तिथौ चन्द्र वासरे वृद्धाशाखीय प्राग्वाट शा. ताराचन्द खुशालचन्द वीठाजीत्केन श्रीसौधर्मवृहत्तपागच्छ संस्थापक नवयुग प्रवर्त्तक मालव मरुधर देशोद्धारक कलिकाल सर्वज्ञकल्प श्री अभिधान राजेन्द्राद्यनेक ग्रन्थ निर्मातृ प्रभुश्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरस्य विम्वं कारितं सियाणा श्रीसंघेन प्रतिष्ठा-ञ्जनशलाका सोत्सव विधिना कारिता, कृता च श्रीविजयभूपेन्द्रसूरीपट्टधर श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरिभिः शुभम् ।

१०. मोहनखेड़ा तीर्थ

मुणिणंद णिहीन्दुवरिसे मगसिर मासे सिय नवमी रविदिने श्री मोहनखेड़ा तित्थठिय गुरुसमाहिमन्दिरे ठावणत्थं कुगसीपुरवासि माणकचन्द तणुय नेमिचन्द पुत्त दानमलस्य पत्नी धन्नी साविययाा सूरिसिर सेहरस्स श्रीविजयराइन्दसूरीसरस्स विम्वं कारावियं पइट्ठाजण शलागा कयंच श्रीविजययतीन्द्रसूरिहि जालोर नयरे ।

११. मोहनखेड़ा तीर्थ

सं. १९८१ ज्येष्ठ सित २ बुधवारे राजगढ़ सकलसंवादेशतः टांडा नगर वास्तव्य ओशवंशीय वृद्ध शाखायां उम्मेदमलचंपालालेन श्रीमद्‌विजय राजेन्द्रसूरीश्वर विम्वं कारितं प्रतिष्ठितं च श्रीमद्‌विजय भूपेन्द्रसूरिणा सौधर्मवृहत्तपागच्छे ।

१२. तालनपुर

पावापुर वास्तव्य प्राग्वारप्वंशे लांवगोत्रीय चौहानशाह मेघराजस्य ताराचन्द हिम्मतमल उमेदमल चम्पालाल सागरमलादिभिः पुत्र प्रपुत्रोस्ताराचन्द्रस्य पत्न्या जीवी श्राविकया च सं. २००८ माघ सिते ६ शुक्रे प्रभु श्रीमद्‌विजयराजेन्द्रसूरी-श्वरस्य विम्वं कारितं थरादनगरे श्री श्रीविजययतीन्द्र सूरिभिःप्रतिष्ठितं च शुभम् ।

तीर्थंकर : जून १९७५/१०८

१३. कुक्षी

ॐ कुक्षी वास्तव्य आरोली आनाजी रायचंद्रस्य श्रीविमला (जडीबाई) सौधर्मवृहत्तपोगच्छीय श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरस्य बिम्बं कारितं अंजनशलाका कृता च श्री विजय यतीन्द्रसूरिशिष्य काव्यतीर्थ साहित्यरत्न मुनिन्याय विजय नगरे। माघ शु. १४ मार्गे वि. सं. २००१ कुक्षी नगरे आगत शुभ १० भोम. आरोली शान्तिलाल कृतोत्सवेन मुनिन्याय विजयेन प्रतिष्ठितं।

१४. जालोर (राजस्थान)

जालोर नगरे नगधर ओसवाल मोदी ओगनी पुत्र श्रीमद्विजय-राजेन्द्रसूरि बिम्बं कारितं प्राण प्रतिष्ठितं गुडाबालोतरा नगरे विजययतीन्द्रसूरिभिः।

१५. थराद (बनासकांठा)

विक्रमीय द्विसहस्राब्द वत्सरे माघ सुदी ८ शुक्रवासरे थराद निवासिना वोहरा भाईचन्द वेचरस्य पत्नी रतनबाई पुत्र झूमचन्द मानचन्द भूखण त्रिभुवन तथा प्रपौत्र वीरचन्द भूदर मफतलाल छोटालाल कालीदास शान्तिलाल कान्तिलाल प्रमुख परिवारैः भूदर झवेरी भार्या पावतीदेवीभिश्च नवयुग प्रभावकानां सर्वतंत्र स्वतंत्राणामावाल ब्रह्मचारिणां, विश्वपूज्यानां, परमयोगीन्द्राणामनेक जैन तीर्थोद्धार-कानां प्रातः स्मरणीयानां प्रभुश्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वराणां बिम्बमिदं कारितं प्रतिष्ठितं च श्रीसौधर्मवृहत्तपोगच्छीय श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरिभिरिति।

१६. थराद

सं. १९९६ वर्षे मासोत्तम मासे वैशाख शुक्ल पक्षे षष्ठि दिवसे शुभवेलायां हर्षविजयभ्यां ललित विजयाभ्यां उपदेशेन थराद नगर वास्तव्य माजनी जीवराज झूमचन्देन भरापितं श्रीविजयराजेन्द्र सूरीश्वर गुरु बिम्बांजनशलाका प्रतिष्ठा सह श्रीसंघन श्रीवर्त-माना चार्य श्रीयतीन्द्र सूरि आदेशात् कृता मुनि हर्षविजयेन।

१७. गुडा बालोतरा

रस गगन नभ कर प्रमिते विक्रमवत्सरे मार्गशीर्ष मासे सि पक्षे दर्शन तिथौ शुक्रवासरे बाली नगरे·····निवासिना शा. चुन्नीलाल पुखराजेन युग प्रधान शासन प्रभावक विश्वपूज्य प्रभुश्री राजेन्द्र सूरीश्वर बिम्बं निर्मापितं, प्रतिष्ठितं च श्रीविजययतीन्द्रसूरिभिरिति।

१८. भीनमाल (राज.)

सं. २०१९ विक्रमे ज्येष्ठ सितैकादश्यां बुधे भीनमालवास्तव्य श्रेष्ठिवेलचन्द आसाजी नारकेण धर्मपत्नी बीजु सहप्रभु श्रीराजेन्द्रसूरीश्वरस्य बिम्बं प्रतिष्ठितं च श्रीमद्यतीन्द्रसूरि शिष्य मुनि विद्याविजयेन। श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छे। नि. कृ. मु. जयन्तवि.।

१९. कोसेलाव (राज.)

सं. २००० वैशाख सित ६ तिथौ चन्द्रवासरे कोसीलाव निवासीना प्राग्वाट अमीचन्द नेमाजीत्केन सौधमवृहत्तपोगच्छीय श्रीराजेन्द्रसूरीश्वराणां मुविम्बं कारितं मरुधरस्थ सियाणानगर सकल जैनसंघ कृतोत्सवे तदञ्जनशलाकाऽकारि श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश्वरेण शुभं भवतु।

२०. फतापुरा (राज.)

ॐ ।। वि. सं. २०१५ माघ सु. दशम्यां बुधे फतापुरा श्री सौधर्म वृहत्तपा-गच्छीय श्रीमद्राजेन्द्रसूरिविम्बं कारितं, प्रतिष्ठाञ्जनशलाका कृतं यतीन्द्रसूरि शिष्य रत्नकाव्यतीर्थ ज्योतिष वि. मुनि न्यायविजयने, जूना जोगापुरा।

२१. सियाणा (राज.)

वैक्रमीय शरनयनान्तरिक्ष पाणिहायने तपसिमासेऽवदाते पक्षे कन्दर्पतिथि कवौ श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छ परम्परानन्दनाराम विहारी परम योगीराज मुकुटायमान बाल ब्रह्मचारी प्रभुश्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वराणां प्रतिमा निर्मापिता श्री सियाना नगर वास्तव्य जैन श्रीसंघेन। कृता च प्राणप्रतिष्ठा श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश पट्टा-लंकार कविरत्न श्रीमद्विजयविद्याचन्द्रसूरीश्वरैः सियाणा नगरे। लिपि चक्रे मुनि देवेन्द्रविजयेन।

२२. आकोली (राज.)

सं. २०१८ वैशाख सुदि ५ वार बुधे नागेचा शा. हंसराजजी सुत प्रागजी श्रावकेन गुरुदेव प्रभुश्रीं विजयराजेन्द्रसूरीश्वर विम्बं का. कृता चाञ्जनशलाका यतीन्द्रसूरि शिष्य मुनि विद्याविजयेन श्री आकोली श्रीसंघ कृतोत्सवे। लिखि देवेन्द्र विजय।

२३. निम्बाहेड़ा (राज.)

सं. १९८९ मार्गशीर्ष शुक्लैकादश्याम् गुरु जावरा सकल संघेनाञ्जनशलाका कारिता श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वयस्य मूर्तिः प्रतिष्ठा धनचन्द्रसूरि शिष्य महोपाध्याय मुनितीर्थविजयेन निम्बाहेड़ा नगरे।

छवी-निर्माण—

ॐ नमः सिद्धम्। मुनि श्रीयतीन्द्र विजयजी महाराज के उपदेश से निम्बा-हेड़ा निवासी विस्तुतिक समस्त संघ ने जैनाचार्य श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी की यह गुर्व्वायतनिका (छती) तैयार कराई, वी. सं. २४४८, विक्रम सं. १९७८ राजेन्द्र-सूरि संवत् १६ पोष सुदि ७ गुरुवार।

२४. भूती (राज.)

षण्णवतिधीन्दु वर्षे पोषमासे धवलपक्षे द्वितीयाष्टमी तिथौ गुरुवासरे विश्व-पूज्य प्रभुश्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर विम्बं शा. गुलाबचन्द सुत सूरजमल हिम्मत-मल पुखराज धनराज मेघराज भ्रातृभिः कारितं, प्रतिष्ठितं च श्री सौधर्मवृहत्तपो-

गच्छीय श्री भूपेन्द्र सूरीश्वर पट्टप्रभाकर जैनाचार्य श्रीयतीन्द्रसूरिभिः भूति नगरे श्री संघ कारित महोत्सवे भवतु कल्याणाय सवषाम्।

२५. बागरा (राज.)

सूरिशक्रचक्रचूडामणेशाबाल ब्रह्मचारिणो विश्वपूज्य श्रीमद्विजयराजेन्द्र-सूरीश्वरस्य बिम्बं बागरा निवासिनो धूरचन्दस्यात्मजेन प्रतापचन्द्रेण कारितं श्री-विजययतीन्द्रसूरिभिः प्रतिष्ठितं च सं. १९९७ मृगशिर सु. ९ रवौ, जालोरनगरे।

२६. जालोर (राज.)

सं. १९९७ मृगशिर सु. ९ रविवासरे जालोर नगरे किस्तुरचन्द गोकलचन्द मंगलचन्द इन्दरचन्द हीराचन्द रतनचन्देन श्रीराजेन्द्रसूरीश्वरस्य बिम्बंकारितं कृता च प्राणप्रतिष्ठा श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छे श्रीविजययतीन्द्रसूरिभिः गोडी पारसनाथ चैत्ये स्थापितम्।

२७. राणापुर (म. प्र.)

सं. २०१४ मार्गशीर्ष कृष्णा ६ बुधवासरे स्व. दोशी कचराजी पत्नी एजी श्राविका श्रीराजेन्द्रसूरीश्वरस्य बिम्बंकारित प्र. श्री विजययतीन्द्रसूरिभिः, राणापुरे।

२८. बड़नगर (म. प्र.)

वेद विधुनभ द्वि विक्रम वर्षे मृगशिर सिते ६ बुधे खट्टाली निवासिना चत्तर मोहनलालस्य दाखा भार्यया प्रभु श्रीराजेन्द्रसूरीश्वरस्य बिम्बंकारितं प्रतिष्ठितं राणापुरे श्रीयतीन्द्रसूरिभिः।

२९. रतलाम (म. प्र.)

श्री वैक्रमीये द्वि सहस्त्रब्दे २००० माधवसित ६ तिथौ सोमवारे रतलाम पुरस्थ सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय सकल श्रीजैनसंघेन सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीमद्-विजयराजेन्द्रसूरीश्वराणामिदं सुबिम्बं कारितं मरुधर सियाणा नगर समस्त जैन संघ विहितोत्सवे तदंजनशलाका कारियं सौधर्मपरम्परायां श्रीमद्विजय धनचन्द्र-सूरिपट्टेश श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरि पट्टालंकार श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरेण, सियाणा नगरे, शिवमस्तु।

३०. इन्दौर (म. प्र.)

संवत् २०२७ मार्गशुक्रे इन्द्रपुरेय पारख गोड़ीय जुहार मलस्य पत्नी जासीबाई सह पुत्र पुत्रेभ्यं प्रभु श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वर बिम्बं भरापितं कृता च प्राण प्रतिष्ठा श्री विद्या चन्द्र सूरिणा।

३१. इन्दौर (म. प्र.)

सं. २०२७ मार्ग शुक्रे इन्दौर वास्तव्य सौधर्मबृहत्तपागच्छीय जैन श्रीसंघेन श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वर बिम्बं भरापितं, प्राणप्रतिष्ठा कृता च श्री विद्याचन्द्रसूरिणा। □

परिशिष्ट (४) : "तीनथुई" सिद्धान्त का परिचय

जिसे सामान्य भाषा में "तीनथुई" कहा जाता है, संस्कृत में उसके लिए "त्रिस्तुतिक" शब्द है। वस्तुतः "तीनथुई" त्रिस्तुतिक" का वंशधर है, उसीका भाषिक रूपान्तर है। "थुई" "स्तुति" को कहते हैं, तदनुसार जिस उपासना-समुदाय में चैत्य-वन्दना के लिए तीन स्तुतियों के बोलने की व्यवस्था है, वह "तीनथुई" कहलाता है। ये तीन स्तुतियाँ हैं : जिनस्तुति, सर्वजिनस्तुति, जिनागम-स्तुति। आगम में "चैत्य" के दो अर्थ किये गये हैं : जिन-बिम्ब, जिन-मन्दिर। वन्दना की व्यवस्था के अनुसार मन्दिरों की संख्या कम होने पर श्रावक को प्रत्येक में तीन थुइयाँ बोलनी चाहिये, किन्तु यदि तीर्थवन्दना में चैत्य-संख्या अधिक हो तो वहाँ क्रमशः एक-एक थुई बोलकर वन्दना करनी चाहिये। संभवतः दोहरावटों से बचने और समय कम लगे, इसलिए यह व्यवस्था की गयी है। माना जाता है कि इस समुदाय का उदय बहुदेववाद से उत्पन्न विकृतियों, अराजकताओं और निरंकुश वन्दना-व्यवस्था को निर्दोष बनाने और नियन्त्रित करने के लिए विक्रम की १३ वीं सदी में हुआ था। इसने सांस्कृतिक धरातल पर श्रावकीय चेतना का परिष्कार किया और उसे सम्यक्त्व के चूके हुए लक्ष्य पर सुस्थिर किया। वस्तुतः जैनधर्म में जिस गुणात्मक वन्दना का प्रतिपादन है, 'तीनथुई' समुदाय ने उस पर ध्यान तो दिया किन्तु फिर भी जिस अविचलता और कठोरता के साथ उसका परिपालन होना था, नहीं हो सका; फलतः चौथी 'थुई' बहिष्कृत तो हुई किन्तु आन्दोलन की जो मूल भावना थी उसका पूरा-पूरा विकास नहीं हो सका, क्योंकि जैनधर्म के अनुसार अन्य देवीदेवताओं की वन्दना बहुधा सांसारिक उद्देश्यों के लिए ही की जाती है, किन्तु जिन-आराधना का लक्ष्य आत्मोदय या आत्मोन्नति के अलावा कुछ और हो ही नहीं सकता। इस दृष्टि से "तीनथुई" समुदाय की वन्दना-पद्धति को निर्मलीकरण का श्रेय दिया जाना चाहिये। इतिहास की नजर में "तीनथुई" समुदाय समय की एक सुधारवादी करवट थी, जिसने यथासमय अपने कर्तव्य-कर्म को निभाया; बीच में जो शिथिलता आयी उसका श्रीमद् राजेन्द्रसूरि ने निरसन किया और उसमें फिर से प्राण फूंके। प्राचीनता की दृष्टि से इसे विक्रम की १३ वीं शताब्दी का माना जाता है। प्रमाण में तत्कालीन महत्त्वपूर्ण कृतियों से उदाहरण दिये गये हैं। संक्षेप में 'तीनथुई' समुदाय और सिद्धान्त की भावना साफसुथरी है, प्रश्न मात्र इतना ही है कि इसे श्रावकीय और साधुई जीवन में प्रकट कैसे किया जाए? आज की पेचीदा सांस्कृतिक स्थिति में यह समस्या और अधिक विषम दिखायी देती है। □

श्रीमद् राजेन्द्रसूरि के पद

१. सद्गुरु ने बाण मारा

सद्गुरु ने बाण मारा, मिथ्या भरम विदारा रे

ब्रह्म एक छे लक्षण लक्षित, द्रव्य अनन्त निहारा।
सर्व उपाधि से वर्जित शिव ही, विष्णु ज्ञान विस्तारा रे॥

ईश्वर सकल उपाधि निवारी, सिद्ध अनन्त अभिधारा।
सिद्ध गति शिवगामी नगारी, रुद्र है करम संहारा रे॥

अल्ला आतम आपहि देखो, राम आतम रमनारा।
कर्मजीत जिनराज प्रकासे, नयथी सकल विचारा रे।

स्याद्वाद सर्वांगी जाणो, तीरथ तारण हारा।
मोक्ष साधक ते साधु समझो, सत्य बोल मुनि धारा रे॥

शुभ योगे ते योगी, जति इन्द्रि जीतारा।
संवर रक्षक सो संवेगी, भगत जैन भजनारा रे॥

ग्रन्थ रहित निर्ग्रन्थ कहीजे, फकीर फिकर फकनारा।
ज्ञान-वास में वसे संन्यासी, पण्डित पाप निवारा रे॥

सत्-चित्-आनन्द रूप निवासी, परम हंस पदधारा।
'सूरिराजेन्द्र' सो केवली सच्चा, आतम जास उजारा रे॥

२. अवधू आतमज्ञान में रहना

अवधू आतम ज्ञान में रहना, किसी कुं कुछ नहीं कहना।

आतम ज्ञान रमणता संगी, जाने सब मत जंगी।
परव भाव लहे न घट अन्तर, देखे पक्ष दुरंगी॥

सोग संताप रोग सब नासे, अविन्यासी अविकारी।
तेरा मेरा कछु नहीं ताने, भंगे भवभव भारी॥

अलख अनोपम रूप निरंजन, ध्यान हिये विच धरना।
दृष्टि राग तजी निज निश्चय, अनुभव ज्ञान कुं वरना॥

तस्कर एक सुभट बहुसंगी, अति उद्भट जग लूंसी।
ताकुं घर अन्दर घुसने की, चोकसी रखना हूंसी॥

एक कुं छोड़के एक कुं धारे, वारे तृष्णा सुसंगी।
'सूरिराजेन्द्र' ना वाक्य विचारी, रहिये नित्य सुरंगी॥

३. निन्दक तुं मत मरजे रे

निन्दक तुं मत मरजे रे, म्हारी निन्दा करेगा कोन।

निन्दक नेढ़ो राख जो रे, आंगण कोट चणाय।
विन साबू पाणी विन मेरो, कर्म मेल मिट जाय।।

भरी सभा में निन्दक वेठो, चित्त निन्दा में जाय।
ज्ञान ध्यान तो कुछ नहीं जाने, कुवद हीया के माय।।

मस्तक मेल उतारना रे, दे दे हाथे जोर।
निन्दक उतारे जीभसुं कांड, जाणे रलियारो ढोर।

धोबी धोवे लूगड़ा रे, निन्दक धोवे मेल।
भार हमारा ले लिया कांई, ज्युं वणझारा वेल।।

निन्दक तुं मर जावसी रे, ज्युं पाणी में लूण।
'सूरि राजेन्द्र' की सीखड़ी रे, दूजो निन्दा करेगा कोण।।

४. श्रावक लक्षण ए नहीं

खाये पीये सुख सुइ रहे, डील में वन रह्या सेठां रे।
पोसह सामायिकरी विरियाँ, गलीयार थइने वेठा रे।।
श्रावक लक्षण ए नहीं।

धसमसता जिन दरसण करवा, आवे भीडी कचोटा रे।
आसपास नारी निरखतां, भाव मांहिला खोटा रे।
श्रावक लक्षण ए नहीं।

सुगति धनने छोड़ीने, मागे धान धन धूल रे।
छोकरा छोकरी कारणे, अरज करे वड़ी मूल रे।
श्रावक लक्षण ए नहीं।।

सुणवा धरमना कारणे, आवे विकथा मांडे रे।
रसिक कथाने सांभली, वैराग्य भाव ने छांडे रे।
श्रावक लक्षण ए नहीं।।

जो शुद्ध करणी आदरी, 'सूरिराजेन्द्र' ने व्यासी रे।
मेघ वायु परे कर्म नो, नाश करी शिव जासी रे।
श्रावक लक्षण एज नही।।

'सवद' की चोट लगी मोरे मन में,
वेधि गयो तन सारा ।

सोवत ही मैं अपने मन्दिर में,
सब्दन मारि जगाये रे फकिरवा ।

शब्द और भाषा

भाषा के रथ पर बैठ कर भाव यात्रा करते हैं। भाषा भावों के आभूषण पहन कर महासाम्राज्ञी की गरिमा धारण करती है। भावों के बिना भाषा विधवा है और भाषा के बिना भाव अमूर्त हैं। इनका परस्पर सहचारि भाव है। भावों के बिना भाषा चल नहीं सकती, आखिर वह तो खाली गाड़ी के समान है; यात्री तो भाव हैं, जिन्हें लेकर शब्दगाड़ी को चलना होता है।

☐ **उपाध्याय मुनि विद्यानन्द**

शब्द वर्णात्मक है

शब्द का अर्थ ध्वनि है और इस निरुक्ति से शब्द ध्वन्यात्मक है। इस ध्वनि को अपने व्यावहारिक स्थैर्य के लिए मानव ने आकृतिबद्ध कर लिया है, अतः शब्द वर्णात्मक है। तर्कशास्त्रियों ने इसी बात का निर्वचन करते हुए लिखा है—'शब्दो द्विविधः। ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च। तत्र ध्वन्यात्मको भेर्यादौ, वर्णात्मकश्च संस्कृत-भाषादिरूपः'—वस्तुतः ध्वनि शब्द का स्फोट है और वर्ण उसकी आकृतिपरक रचना है। मानव-जाति का लोकव्यवहार परस्पर बोल कर अथवा लिख कर चलता है। वह अपने विचारों को लिख कर स्थिरता प्रदान करना चाहता है। किसी एक समय वाणी द्वारा प्रतिपादित अथच चिन्तन में आये हुए भाव किसी अन्य समय में विस्मृत हो जाते हैं, इसी विचारणा ने लेखन-प्रक्रिया का आरम्भ किया। इस लेखन-प्रणाली से विश्व के किसी भी भाग पर स्थित मनुष्य अपने संदेश को दूरातिदूर स्थानों तक पहुँचा सकता है; अतः कहा जा सकता है कि लिपिमयी भाषा का विकास न हुआ होता तो मनुष्य साक्षात् वार्तालाप तो कर सकता था किन्तु उन्हें स्थिरता प्रदान नहीं कर सकता था।

जीभ हाथों के सिपुर्द

इस महत्त्वपूर्ण शब्द-स्थैर्यकरण विद्या को जिस दिन लिखित रूप मिला, लिपि-शक्ति प्राप्त हुई, वह दिन मानव-जाति के लिए महत्त्वपूर्ण रहा, इसमें कोई संशय नहीं। अब मानव अपने विचारों का संकलन कर सकता था, अपनी वाणी को स्थिरता दे सकता था और दूर अथवा समीप प्रदेशों तक अपनी आवाज पहुँचा सकता था। सिद्धान्त-वाक्यों के विस्मरण का लिपि-रचना के बाद कोई भय नहीं रहा; परन्तु कालान्तर में मौखिक तथा लिखित भाषा में परस्पर प्रतिष्ठा को लेकर

कलह उत्पन्न हो गया । लिपि-रचना के पूर्वसमय में 'उक्ति' को प्रतिष्ठा प्राप्त थी और महान् उपदेशों को, आचार्यों के आशय को उदाहरण में प्रस्तुत करते समय 'उक्तम्'-जैसा कि अमुक ने कहा है, कहकर अपने भाषण को समर्थन दिया जाता था किन्तु लिखने की शक्ति मिलने पर 'मौखिक' का महत्त्व समाप्त प्रायः हो गया और जिह्वा की प्रमाणवत्ता हाथों को प्राप्त हो गयी। हाथ से लिखा हुआ प्रामाणिक माना जाने लगा और मुख से कहा हुआ लिपिरूप में प्रत्यक्ष (आँखों के समक्ष) न होने से अविश्वस्य हो गया ।

वर्ण ब्राह्मी, अंक सुन्दरी

जैनमत के अनुसार भगवान् आदिनाथ ने अपनी ब्राह्मी तथा सुन्दरी नामक पुत्रियों को वर्ण और अंक-विद्या का उपदेश दिया था; इसीलिए भारतीय लिपि तथा भाषा को ब्राह्मी और भारती कहा जाता है। वैदिकों के अनुसार ब्रह्म ने चिन्तन किया—'एकोऽहं बहुस्याम्' 'मैं एक हूँ और अनेक हो जाऊँ'—इसी इच्छाशक्ति ने शब्दरूप में प्रथम जन्म लिया अतः वह ब्रह्मभाषित होने से ब्राह्मी कही गयी । भाषा-शास्त्रियों का मत है कि मनुष्य आरम्भिक अवस्था में छोटी-छोटी सामान्य ध्वनियों से काम चलाता था। जैसे किसी को आह्वान करना (पुकारना) हुआ तो 'ए' 'ओ' कहता था। पानी की इच्छा हुई तो 'क' कहता था, आकाश का संकेत करना होता तो 'ख' कह देता था। आश्चर्य व्यक्त करने के लिए 'ई' 'उ' पर्याप्त था। इस प्रकार आरम्भ में वह लघुतम वर्णध्वनियों से अभिव्यक्ति के मार्ग पर बढ़ रहा था। संस्कृत भाषा में ये एकाक्षर शब्द आज भी मूल अर्थ में सुरक्षित हैं। उस प्राचीनतम समय का 'ऐ-ओ' अयि तथा आर्य बन गये हैं। इसी प्रकार 'च' 'न' 'ह' 'र' 'ल'—इत्यादि एकाक्षर शब्दों को लिया जा सकता है। कालान्तर में शब्द एकाक्षर से द्वयक्षर, त्र्यक्षर और बह्वक्षर बना। तब मिश्र, यौगिक आदि अनेक ध्वनियों का विकास हुआ ।

अतिपूर्वकालीन एकानुबन्ध

आज मानवमात्र के पास एक न एक भाषा है जिसमें वह अपनी अभिव्यक्ति को मूर्त करता है। इन ऊपर से पृथक् प्रतीयमान भाषाओं के उपलब्धि-स्रोत अधिकांशतः अपने मानव-परिवार-सामीप्य की सूचना दे रहे हैं। भाषाओं का यह साम्य उनके आभ्यन्तर जीवन पर है। दिन, वार, पक्ष, मास, वर्ष, संख्या तथा इसी प्रकार के अन्य साम्य विश्वभर में हैं। सर्वत्र वर्ष-गणना के दिनों में, मास-संख्या में, अंकों की शतकपरम्परा में किसी अतिपूर्वकालीन एकानुबन्ध का संकेत है। यह एकानुबन्ध सर्वप्रथम किस भाषा का ऋणी है, यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता। तथापि आधुनिक 'भाषा-विज्ञान' के मनीषियों ने यह स्वीकार किया है कि 'ऋग्वेद' सर्वप्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ है और उसी की भाषा प्राचीनतम है। यह भी भाषाविदों का अभिमत है कि सम्पूर्ण मानव-परिवार कभी एक भाषाभाषी था

और अपने कौटुम्बिक आयामों की विस्तृति के साथ भूमण्डल पर फैलता गया। वह मूलभाषा उनके साथ विश्व में फैल गयी और दीर्घकाल के अनन्तर उन-उन परिवारों के देश, काल, संस्कार तथा परिस्थितियों के परिवेश को स्वीकार कर परिवर्तित होती गयी। जैसे आज के भूगर्भ-विशारद पृथ्वी की गहराइयों का उत्खनन कर प्राप्त वस्तुओं से प्राचीन इतिहास का पता लगा रहे हैं और टूटी शृंखला की ऐतिहासिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परम्पराएँ जोड़ रहे हैं, उसी प्रकार भाषा-विज्ञान के आचार्य भी बनते, बदलते, घिसते, घिसटते, खुरदरे, चौकोर और लम्बोतर होते शब्दों की मूल आकृति को जानने के लिए कृतोद्यम हैं। उन्हें इस बात में सफलता भी मिली है।

संस्कृत का ऋण

प्राकृत, पाली, अपभ्रंश, मागधी, अर्धमागधी, हिन्दी, मराठी, गुजराती, राजस्थानी आदि भारत की प्रादेशिक भाषाओं में संस्कृत भाषा के तद्भवरूपों की प्रचुरता है और विदेशी भाषाओं में भी संस्कृत के सहस्रों-सहस्र शब्द विद्यमान हैं। संस्कृत की व्याकरण-सम्मत प्रक्रिया आज भी उनमें प्राप्त है। यद्यपि उन-उन देशी-विदेशी भाषाओं के साहित्य अपने स्वतन्त्र मौलिक चिन्तन के साथ लिखे गये हैं तथापि उनका शब्द-विधान संस्कृत का ऋणी है। प्रकृति-प्रत्ययों की शैली ने संस्कृत को जो उर्वरता की पुष्कल क्षमता प्रदान की है, वह अद्भुत है। शब्द-निर्माण-शक्ति की साभिप्राय प्रक्रिया संस्कृत व्याकरण को प्राप्त है। सिद्ध है कि भारतीय तथा भारतीयों से इतर भाषाओं को संस्कृत ने पर्याप्त जीवन दिया है। आज राष्ट्रभाषा पद पर विराजमान हिन्दी अपने को संस्कृत से विश्व-भाषाओं की तुलना में सर्वाधिक सम्पन्न कर सकती है। संस्कृत भाषा की शब्द-निर्माण-शक्ति की एक झलक यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

वस्तु-विज्ञान के इतिहास में नया अध्याय

शब्द-निर्माण करते हुए उन-उन निर्माताओं का ध्यान वस्तु के गुण, स्वाद, आकृति, स्वभाव, वंश, स्थान, प्रकृति इत्यादि अनेकांगों पर गया और फलतः उन्होंने जो शब्द-रचना की, वह वस्तु-विज्ञान के इतिहास में आज भी अपूर्व है तथा प्राचीनों की शोध-मनीषिता को बताती है। गुण के आधार पर निर्मित शब्द 'धात्री' है। धात्री आँवले को कहते हैं। धात्री का अन्य अर्थ धाय (उपमाता) है। माता के अभाव में जो शिशु को अपना स्तन्य पिलाकर जीवन-दान करती है उसे धात्री कहते हैं। आँवला माँ के स्तन्य का विकल्प ही है, उतना ही शक्तिदाता एवं पोषक है इस गुणानुसन्धान के बाद आयुर्वेद के मनीषियों ने आमलकी को 'धात्री' कहा। स्वादपरक नामों में 'मधुयष्टि' जिसे मुलैठी कहते हैं, प्रसिद्ध है। 'मधुयष्टि' का अर्थ है, मीठी लकड़ी; और इस नाम से उसे कोई भी पहचान सकता है। 'मण्डूकपर्णी' तथा 'कृष्णाक्षी' क्रमशः मंजिष्ठा तथा गुंजा (चिर्मी) को कहते हैं।

यह आकृति देखकर निर्मित संज्ञा है। मेंढक जैसे पत्तोंवाला मण्डूकपर्णी और काली आँखवाली कृष्णाक्षी। स्वभाव का निरूपण करने वाले शब्दों में 'चन्दन' नाम लिया जा सकता है। 'चन्दन' शब्द का अर्थ है आह्लाद देनेवाला। चन्द्रमा, कपूर तथा पाटीर वृक्ष के अर्थ में इसका प्रयोग किया जाता है। 'चन्दनं शीतलं लोके' यह लोकोक्ति भी है जो चन्दन के शीतल स्वभाव को बताती है। वंश-परिचायक शब्दों में 'राघव' शब्द है। रघुकुल में उत्पन्न श्री रामचन्द्र इसका अर्थ है। स्थान अथवा क्षेत्र का अर्थ-बोध कराने वाले शब्दों में कमल के वाचक 'नीरज' शब्द को लिया जा सकता है। प्रकृतिपरक शब्द 'पुनर्भू' है। नाखून तथा केश अर्थ में 'पुनर्भू' का प्रतिपादन होता है। इसका शाब्दिक अर्थ है पुनःपुनः उत्पन्न होने वाला। नाखून काटने पर भी बार-बार बढ़ते रहते हैं इसलिए इन्हें 'पुनर्भू' कहा। इस प्रकार विविध दृष्टिकोणों से शब्द-रचना की प्रक्रिया तैयार की गयी है। जैसे परिवार में एक ही व्यक्ति को अपेक्षाभेद से पिता, पुत्र, कहते हैं उसी प्रकार शब्द भी अपने गुण-स्वभाव-प्रकृति आदि से निष्पन्न होता है। चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों की अपेक्षा 'शीतरश्मि' है और अपने बिम्ब में दिखायी देने वाले धब्बे की अपेक्षा 'कलंकी, शशलक्ष्मा' है। वह भी क्षीण और कभी पूर्ण होता है अतः 'क्षयी' है। चन्द्रमा के उदय से 'कुमुद' खिल जाते हैं अतः इसे 'कुमुदबान्धव' कहते हैं। इसी प्रकार भगवान् महावीर के 'वर्द्धमान' 'सन्मति' 'अतिवीर' तथा 'वीर' नामों की रचना की गयी है। शब्द-रचना की अनन्त सम्भावनाओं से संस्कृत वाङ्मय भरा हुआ है। शब्दों का यह परिचय-अवगाहन दिङ्मात्र है और शब्द-रचना के लिए जिज्ञासा रखने वालों को प्रेरणार्थक है अन्यथा यह एक विषय एक पुस्तक हो सकता है। शब्दों के रहस्यपूर्ण रचना-कौशल की अधिक जिज्ञासा व्याकरण और भाषा-विज्ञान से तृप्त की जा सकती है।

भाषा-रथ, मानव-मनोरथ

भाषा ने मनुष्य की अनेक समस्याओं का समाधान किया है। भौतिक और आत्मिक जगत् में भाषा के राजमार्ग क्षितिज तक चले गये हैं। भाषा के रथ पर बैठकर भाव यात्रा करते हैं। भाषा भावों के आभूषण पहनकर महासम्राज्ञी की गरिमा धारण करती है। भावों के बिना भाषा विधवा है और भाषा के बिना भाव अमूर्त हैं। इनका परस्पर सहचारिभाव है। भावों के बिना भाषा चल नहीं सकती, आखिर वह तो खाली गाड़ी के समान है, यात्री तो भाव हैं, जिन्हें लेकर शब्द-गाड़ी को चलना होता है। इस विचारणा से भाषाओं के साथ समन्वय तथा समताभाव रखनेवालों में श्रमण मुनि और जैन परम्परा आग्रहशील रही है। जैसे कोई तृषा-क्लान्त व्यक्ति दूर तक भरे हुए जलाशय के जल-विस्तार को नहीं देखता किन्तु अपनी अञ्जलि में आने वाले (उतने ही) पानी को ग्रहण करने का ध्यान रखता है उसी प्रकार उन्होंने भाषाओं को भाव-ग्रहण का माध्यम मात्र माना, उसकी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि जातिविशेष पर मोह नहीं किया। उनका उद्देश्य लोक में

राष्ट्रीय जीवन और भाषा

राष्ट्र के लिए भाषा एक सफल माध्यम है। भाषा की सहायता से राष्ट्र विस्तार ग्रहण करता है। समान भाषाभाषी के हृदय में दूसरे समानभाषी के प्रति व्यवहार-सौकर्य तो होता ही है, प्रेमभाव भी उत्पन्न होता है; अतः राष्ट्रीय स्तर पर किसी एक भाषा का निर्धारण आवश्यक है। वह भाषा अधिकतम जनों की भाषा होनी चाहिये। उसके माध्यम से राष्ट्र के पूर्व-पश्चिम, दक्षिणोत्तर प्रान्तों के लोग समीप आयेंगे। एक सशक्त राष्ट्रभाषा के बिना केन्द्र-संस्था का राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार स्फीत नहीं हो सकेगा। विदेशों में राष्ट्रीय स्वर को किसी वैदिक अथवा प्रान्तीय भाषा द्वारा सम्मानित नहीं किया जा सकता। 'संगच्छध्वं, संवदध्वम्, सं वो मनांसि'–इस प्राचीन राष्ट्रीय सूक्त में साथ चलने, साथ बोलने तथा साथ-साथ मानसिक समत्व रखने का निर्देश किया गया है। यह राष्ट्र के सहअस्तित्व के लिए नितान्त उपयोगी है। अपनी टेढ़ी चाल से, वक्रगति से राष्ट्रीय राजमार्ग को विकृत नहीं करना चाहिये। प्रायः राष्ट्रभक्ति का परिचय व्यक्ति की भाषा से भी होता है।

बहुरूपिये शब्द

भाषा लोकव्यवहार में आकर परिमार्जित तथा स्फीत होती है। भाषा की समृद्धि उसके उपयोक्ताओं पर है। उपयोक्ता जिस क्षेत्र में प्रगतिशील होंगे, भाषा और उसकी शब्द-निधि उस विषय में अधिक प्राञ्जल तथा अधिकार-सम्पन्न अभिव्यक्तिपूर्ण होगी। लोकजीवन में आकर ही शब्द विविध रूप ग्रहण करते हैं। कभी वे शीर्षासन करने लगते हैं और कालान्तर में वैसे ही रह जाते हैं तो कभी गेहुँओं में मिले यवकणों की तरह किसी अन्यार्थक शब्द के साथ मिलकर स्वयं अन्यार्थक हो जाते हैं। वैयाकरणों को यह परिवर्तित, विकृत अथवा अर्थान्तरसंगत रूप बड़ा प्रिय लगता है। वे ढूँढ-ढूँढकर ऐसे शब्दों को लोकव्यवहार से ग्रहण करते हैं तथा उस पर अपनी मान्यता की मुहर लगा देते हैं। जैसे 'सिंह' शब्द 'हिंस' से बना है। हिंसाजीवी होने से पूर्वसमय में इसे 'हिंस्र' कहते रहे होंगे। कालान्तर में वर्णविपर्यय हो गया, और हिंस शीर्षासन करने लगा, सिंह हो गया। 'देवानां प्रियः' का अर्थ है देवों का प्रिय। प्रियदर्शी अशोक सम्राट् को 'देवानां प्रिय' कहते थे। कालान्तर में इसका अर्थ 'मूर्ख' किया जाने लगा। सम्भव है, अशोक द्वारा बौद्धधर्म स्वीकारने से उसकी प्रशंसा को निन्दा में प्रचलित कर दिया गया हो। पाणिनी व्याकरण के 'षष्ठ्या चानादरे' सूत्र का उदाहरण 'देवानां-प्रिय इति च मूर्खे,' दिया गया है। वस्तुतः देव और प्रिय दोनों शब्दों का मूर्ख अर्थ नहीं होता। तुलसीदासजी ने अपने एक दोहे में लिखा है–'रामचरण छहतीन रहु दुनिया से छत्तीस'–अर्थात् राम-भक्ति करते समय छह और तीन के अंकों के समान रहो–६३ तिरसठ का यह रूप परस्परोन्मुखी है; अतः अर्थ किया गया है

कि रामचरणों के सदा सम्मुख रहो और संसार से ३६ अर्थात् तीन और छह के अंकों के समान नित्य विमुख रहो। ये रति और विरति के अर्थ भाषा की ऊर्जा को, उसकी नित्यनवार्थ ग्रहण-समर्थ प्राणशक्ति को सूचित करते हैं।

प्रकरण जाने बिना अनर्थ

वैयाकरणों का एक प्रसिद्ध श्लोक है—कि शब्द का अर्थ करते समय व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति और सिद्धपद का सामीप्य —इतने अनुबन्धों का ध्यान रखना चाहिये; अन्यथा अर्थ विपरीतार्थक भी हो सकता है। 'अर्थः प्रकरणं लिंगं वाक्यस्यान्यस्य सन्निधिः'—लिखते हुए एक अन्य श्लोक में भी शब्द-शक्ति का निरूपण किया गया है। प्रकरण जाने विना शब्दमात्र से अर्थ का अभीष्ट दोहन नहीं किया जा सकता, इसका उदाहरण है 'सैन्धव' शब्द । सैन्धव के दो अर्थ हैं; अश्व तथा लवण । यदि वक्ता भोजन की थाली पर बैठा है और 'सैन्धव लाओ कहता है तो प्रकरण देखकर उस समय नमक लाना संगत है और वस्त्र धारणकर यात्रा के लिए सन्नद्ध है तो भृत्य को उचित है कि वह अश्व लाये । प्रकरण जाने विना यदि वह दोनों अवसरों पर विपरीत अर्थ करे तो शब्द अपनी स्वाभाविक शक्ति का प्रतिपादन नहीं कर पायेगा। बहुत-से शब्द संस्कृत भाषा के तत्समरूपों से विकृत होकर विदेशी भाषाओं में घुलमिल गये हैं; जैसे डाटर (दुहितर्), होम (हर्म्य), क्वार्टर (कोटर), मैन (मनु), (नियर) निकट, लोकेट (लोकित), थ्री (त्रि), डोर (द्वार) इत्यादि। इसी प्रकार विदेशी भाषाओं के रूप भी भारतीय भाषाओं में रच-पच गये हैं ।

जिह्वा में : अमृत भी, विष भी

ये शब्द रूप, रस, गन्ध, वर्ण युक्त हैं, पौद्गलिक हैं; परन्तु पुद्गलपर्यायी होने पर भी इनकी स्थिति महत्त्वपूर्ण है। अपराजित मंत्र 'णमोकार' शब्दरूप है, भगवान् के स्तुतिपद शब्दों की सोद्देश्य रचना हैं । आशीर्वाद और अभिवादन का शिष्टाचार शब्द-माध्यम से पूरणीय है। परिवार के वात्सल्य अंग शब्द-सहयोग से निष्पन्न होते हैं। पत्नी, माता, पुत्री आदि शब्द न होते तो पारिवारिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। आगम-शास्त्र कुछ शब्दों के ही अर्थानुगामी विन्यास हैं। विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों की संज्ञाएँ शब्दबद्ध हैं। शब्दों का सावधानी से चयन कर हम दूसरों के मुख पर स्मित के फूल खिला सकते हैं और अवमानना के शब्दों से नेत्रों में अग्नि-ज्वाला का अविर्भाव भी कर सकते हैं। कतिपय अवसर-प्रयुक्त शब्द जन्मभर के लिए मैत्री में बांध लेते हैं और दुष्प्रयुक्त होने पर वैर-विरोध उत्पन्न कर सकते हैं । इस प्रकार अमृत और विष जिह्वा में बसे हुए हैं। जिसके पास मधुर भाषा है, मीठी बोली है, वह पशु-पक्षी भी मनुष्य को प्रिय लगता है। यह जानकर मधुरवाक् की शक्ति बढ़ानी चाहिये। जो सदैव स्मितपूर्वक बोलता है, उसके सभी मित्र बन जाते हैं।

'सब सीख्यो गयो धूल में'

जो बहुत-से लोगों के सम्पर्क में आते हैं, उन्हें वाणी को नवनीत में चुपड़कर स्निग्ध रखना चाहिये। किसी सूक्तिकार ने कहा है—'बोलबो न सीख्यो, सब सीख्यो गयो धूल में' यदि किसी ने बहुत सीख लिया किन्तु बोलना नहीं सीखा तो पढ़ा-लिखा सब धूलि में मिल गया। बोलना, अर्थात् वागात्मक शब्द-भारती का विशिष्ट चयन कर लोक को प्रसन्न मुग्ध कर देना, बड़ा कठिन है। काक निम्ब-वृक्ष पर बैठता है और कटु बोलता है, कोकिल रसाल को चुनती है और रससिक्त वाणी बोलती है। शब्दों के उचित व्यवहार पर सुखी जीवन का निर्माण होता है। जो वाणी पर बाण रखता है, लोग उससे त्रस्त रहते हैं। कीर्तिजीवी को शब्दजीवी, अक्षरजीवी कहते हैं। पुरुषायु समाप्त करने पर भी दिवंगत व्यक्ति अक्षरों में जीवित रहता है। 'कीर्तिर्यस्य स जीवति' —जिसकी कीर्ति लोक में विश्रुत है, वह मरकर भी जीवित है। जिसे शब्दों ने धिक्कार दिया, उसको तीन लोक में यशास्विता प्राप्त नहीं होती। सम्यक्चारित्रशील को विद्वान्, त्यागी शब्दों द्वारा ही स्मरण किया जाता है। शब्द में शृंगार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक, बीभत्स, रौद्र, शान्त सभी रस समाहित हैं। मंत्ररूप में शब्द अचिन्त्य महिमशील है।

शब्द-कुबेर

शब्दकोश के धनी विरले व्यक्ति होते हैं। बहुत-से तो एक-एक शब्द के लिए तरसते हैं। इस प्रकार कुछ व्यक्ति शब्दों की उपासना करते हैं और कुछ व्यक्तियों की उपासना के लिए शब्द स्वयं प्रस्तुत होते रहते हैं। जैसे महाप्रभावी तपस्वियों के चरणस्पर्श का सभी को तुरन्त अवसर नहीं मिलता, उसी प्रकार समर्थ शब्द-ध्वनियों को अपनी विशाल शब्द-संपत्ति में से सभी का प्रयोग कर पाना कठिन होता है। कवि धनञ्जय ने इसी आशय का एक श्लोक लिखते हुए कहा है कि धनञ्जय ने चुन-चुन कर शब्दों को कोषबद्ध कर दिया है उसके भय से पलायित शब्द तीनों लोक में दौड़ लगा रहे हैं। वेदवाणी के रूप में वे ब्रह्मा के पास चले गये, गंगाध्वनि का व्याज करते हुए हिमालय पर शंकर के पास और क्षीरसमुद्र की कल्लोल-हुंकारों के मिष से केशव (विष्णु) के पास चले गये। धनञ्जय के भय से उत्पीड़ित शब्द फुंकार कर रहे हैं,* मानो, तात्पर्य यह है

---

*'ब्रह्माणं समुपेत्य वेदनिनदव्याजात्तुषाराचल—
स्थानस्थवारमीश्वरं सुरनदीव्याजात्तथा केशवम्।
अप्यम्भोनिधिशायिनं जलनिधेर्ध्वानोपदेशादहो
फूत्कुर्वन्ति धनंजयस्य च भिया शब्दाः समुत्पीड़िताः ॥'

कि धन्नजय के पास शब्दों की कमी नहीं है। वह ब्रह्मा, विष्णु और महेश के पास जो शब्द-सम्पत्ति है, उस सभी को जानता है। जो शब्द-शब्द को मोतियों के समान चुनते हैं वे गम्भीर शास्त्र-समुद्रों में गहरी डुबकी लगाने वाले गोताखोर होते हैं। वे ही वाङ्मय-प्रासाद को सँवारते हैं, भारती-मन्दिर में अर्चना के पुष्पोपहार समर्पित करते हैं।

पर्यटक शब्द

भौतिक विज्ञान की सहायता से आज शब्द-शक्ति नये-नये रूपों में लोकव्यवहार का साधन वनी है। 'डाक' विभाग की कृपा से शब्द देश-विदेशों में पर्यटन करने लगे हैं। 'तार' से उड़ते हैं, टेलीप्रिंटर पर साकार होते हैं। संगीत के तारों पर थिरकते हैं। सभी ज्वालामुखियों के विस्फोट तक सीमित थे अब अणु-आयुधों में वन्द हैं और मानव की किसी भी क्षण की गयी अवुद्धिमत्तापूर्ण कार्यवाही की प्रतीक्षा में हैं। काकातोआ और विसुवियस से अधिक भीषण उद्घोष करने वाले 'धड़ाके' इन वमों में अकुला रहे हैं।

जिनवाणी अर्थात् वाक्अमृत

'त्वेधा जिनेन्द्रवचोऽमृतम्'—भगवान् जिनेन्द्र की वाणी को अमृत वताया गया है। जो अपने अस्तित्व से लोक में जीवन संचारित करे, वह वाक् अमृत ही है। यह शब्द, शब्दमय वाक् प्राणिमात्र में वन्धुत्व स्थापन करने वाली है। इस भाषा के अमृतपात्र में विश्व के रसपिपासु अधर डूवे हुए हैं। □

शब्द तारे, शब्द सहारे

□भवानीप्रसाद मिश्र

मैं
और मेरे सहारे
तुम
और तुम्हारे तारे
तारे और सहारे
मेरे और तुम्हारे
शब्द हैं और
शब्दों के समूह हैं

बिना
साफ-सुथरे शब्दों के
तारे और सहारे
केवल चक्रव्यूह हैं
जिनमें तुम
फँस जाओगे
मैं फँस जाऊँगा

साफ-सुथरे
शब्दों के बल पर
तुम पुकारोगे
तो मैं आऊँगा
मैं पुकारूँगा
तो तुम आओगे
तुम मुझे
सहारे की तरह
मैं तुम्हें
तारे की तरह
गाऊँगा। □

जैन दर्शन : पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से

□ डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री

प्रत्येक दर्शन अपनी पारम्परिक पारिभाषिक शब्दावली में निबद्ध परिलक्षित होता है। सभी अपने भावों के अनुसार शब्द को कोई-न-कोई अर्थ तथा साँचा प्रदान करते हैं। अर्थ-बोध की प्रक्रिया समान होने पर भी प्रत्येक युग में शब्दार्थ-सम्पदा परिवर्तित होती रहती है; किन्तु यह केवल बोली के सम्बन्ध में ही चरितार्थ होता है, जीवित भाषा के साहित्य में एक बार उसके रूढ़ हो जाने पर फिर वह अपना विशेष विकास नहीं कर पाती। प्राकृत और विशेष कर मागधी युग-युगों तक जनता की बोल-चाल की भाषा बनी रही और शताब्दियों पश्चात् उसमें साहित्य लिखा गया। केवल साहित्य ही नहीं, दर्शन के तथा अन्य विषयों के उत्कृष्ट ग्रन्थ भी रचे गये। प्राकृत की अपनी दार्शनिक शब्दावली है, जो जैन-दर्शन की पारिभाषिक एवं रूढ़ पदावली से संग्रथित है।

'अभिधान राजेन्द्र कोश' में ऐसे शब्द प्रचुरता से मिलते हैं, जिनसे सहज ही जैन-दर्शन तथा जैनधर्म का परिचय मिल जाता है। इस लेख में हमने ऐसे ही कुछ शब्दों का संकलन किया है, जो अधिकतर आज भी परम्परा रूप में प्रचलित हैं; उदाहरण के लिए थुइ (स्तुति), **पडिक्कमण** (प्रतिक्रमण), **समइ**, **सामाइय**, (सामायिक), **समायारी** (समाचारी), **पडिलेहणा** (प्रतिलेखना), **थाणग**, **थानक** (स्थानक) आदि। इन शब्दों में आज भी श्रमण-संस्कृति जीवित परिलक्षित होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि परम्परागत जीवन समाप्त हो गया है या फिर उसका जीवित निदर्शन नहीं मिलता। यथार्थ में श्रमण-संस्कृति के बिना भारतीय संस्कृति का वास्तविक आकलन नहीं हो सकता। शब्दों का जीवन सुदूरगामी तथा सहस्र शताब्दियों का होता है। इन शब्दों में भारत की अन्तरात्मा आज भी प्रतिबिम्बित हो रही है। भले ही मुख्य रूप से ये जैनों के प्रतीक शब्द हों, पर भाषा, दर्शन व संस्कृति की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व है। ऐसे ही कुछ शब्द 'अभिधान राजेन्द्र' से यहाँ प्रस्तुत हैं—

प्रथम खण्ड

अणेगंतवाय=अनेकान्तवाद। पृ. ४२३–४४१
अत्त=आप्त (देव) पृ. ४९९–५००
अत्थिवाय=अस्तिवाद। पृ. ५१९–५२४
अदत्तादाण=अदत्तादान। पृ. ५२६–५४०

अप्पा=आत्मा। पृ. ६१६
अरहंत=अर्हन्त। पृ. ७५[illegible]
अरिट्ठणेमि=अरिष्टनेमि। पृ. ७६२–७६[illegible]
अरिहंत=अर्हत्। पृ. ७६३–७६८

द्वितीय खण्ड

आता=आत्मा। पृ. १८७–२३३
आयरिय=आचार्य। पृ. ३०५–३३८
आरंभ=कृषि आदि व्यापार। पृ. ३६२–३७१
आराहणा=आराधना। पृ. ३८३–३८७
आलोयणा=आलोचना। पृ. ४००–४३७
आसायणा=आशातना (विनयभ्रंश)। पृ. ४७८–४८३

तृतीय खण्ड

कज्जकारणभाव=कार्यकारणभाव। पृ. १८७–२०१
कम्म=कर्म। पृ. २४३–३३४
करण=भाव। पृ. ३५९–३७२
कसाय=कषाय। पृ ३९४–४००
काउसग्ग=कायोत्सर्ग। पृ. ४०४–४२८
किरिया=क्रिया, भाव। पृ. ५३१–५५२
केवलणाण=केवलज्ञान। पृ. ६४२–६५१
खंध=स्कन्ध। पृ. ६९८–७०१
गच्छ=समुदाय, एक आचार्य का परिवार। पृ. ८००–८०५
गणधर=तीर्थंकृत्शिष्य। पृ. ८१५–८२०
गुण=भाव, ज्ञान-दर्शन-चारित्र। पृ. ९०५–९१३
गुणट्ठाण=गुणस्थान। पृ. ९१३–९२७
चित्तसमाहिट्ठाण=चित्तसमाधिस्थान। पृ. ११८३
चेइय=चैत्य (प्रतिमा)। पृ. १२०५–१२९२

चतुर्थ खण्ड

जागरिया=जागरिका, निद्राक्षय से बोध (धर्म-जागरण)। पृ. १४८८
जिण=जिन, रागद्वेषादि विजेता। पृ. १४५९–१४६२
जिणसासण=जिनशासन, जिन-आज्ञा। पृ. १५०६–१५०७
जीव=प्राणधारी। पृ. १५१२–१५४६
जीवट्ठाण=जीवस्थान। पृ. १५४७–१५५२

पञ्चम खण्ड

षष्ठ खण्ड

लेसा, लेस्सा=लेश्या, रंजित परिणाम। पृ. ६७५–६९६

लोक=लोक। पृ. ६९८–७१२

वग्गणा=वर्गणा, सजातीय वस्तु-समुदाय, वर्गराशि। पृ. ७८५–७९४

वण्ण=वर्ण। पृ. ८१८–८३०

ववहार=व्यवहार। पृ. ९०४–९२६

विगइ=विकृति, विकार। पृ. ११३२–११३६

विणय=विनय। पृ. ११५२–११८१

विहार=विहार। पृ. १२७५–१३२८

वीयराग=वीतराग। पृ. १३३२–१३३६

वीर=महावीर। पृ. १३३७–१३९५

वेयावच्च=वैयावृत्य, सेवा। पृ. १४५१–१४५०

सप्तम खण्ड

संकम=संक्रम, कर्म-प्रकृतियों का परिणमन। पृ. ७–७४

संखेज्जम=संख्येयक, गणना-संख्या-भेद। पृ. ६५–७०

संघ=समूह। पृ. ७७–८२

संघाड, संघाट=सिंघाड़ा, साधु-समूह। पृ. ८३

संजम=संयम। पृ. ८७–८९

संजलण=संज्वलन, कुछ ज्वलनशील। पृ. १०६

संजोग=संयोग, समुचित योग। पृ. १०७–१२०

संठाण=संस्थान, आकार विशेष। पृ. १२३–१२७

संथार=संस्तार, भू-शय्या। पृ. १५०–१९५

संभोग=एक मण्डली में साधुओं का भोजन। पृ. २०८–२१५

संलेहणा=संलेखना, कषाय व शरीर कृश करना। पृ. २१७–२२८

सज्झाय=स्वाध्याय। पृ. २८०–२९२

सत्तभंगी=सप्तभंगी, स्याद्वाद के अन्तर्गत सात प्रकार का वचन-विन्यास, पृ. ३१५–३१८

सद्दणय=शब्दनय। पृ. ३६६–३६९

समण=श्रमण। पृ. ४१०–४१२

समाहि=समाधि। पृ. ४२५–४३१

समुग्घाय=समुद्घात, वेदना के साथ प्रबलतम निर्जरा। पृ. ४३४–४५७

समोसरण=समवसरण, सबके एकत्र होने की धर्म-सभा। पृ. ४३३–४८१

सम्मत्त=सम्यक्त्व। पृ. ४८२–५०३

सम्मद्दिट्ठि=सम्यग्दृष्टि। पृ. ५१२–५१४

सरीर=शरीर। पृ. ५३४–५५८

सल्ल=शल्य, चुभने वाली। पृ. ५६१–५६२

सव्वण्णु=सर्वज्ञ। पृ. ५७४–५९२

सागारिय=सागारिक, गृहस्थ। पृ. ६०८–६१२

सामाइय=सामायिक, रागद्वेष-रहित समत्व की उपलब्धि। पृ. ७०१–७३४

सामायारी=सामाचारी, आगम के अनुकूल चर्या। पृ. ७३६–७७४

सावग, सावय=श्रावक। पृ. ७७९–७८४

सिद्ध=सिद्ध, कृतकृत्य। पृ. ८२१–८४५

सुण्णवाय=शून्यवाद। पृ. ९३९–९४१

सुद्धणय=शुद्धनय, निश्चयनय। पृ. ९५७

सुय=श्रुत, अवधारित। पृ. ९६९–९९८

हिंसा=हिंसा। पृ. ११२८–१२३४

हेमवय=हैमवत क्षेत्र। पृ. १२४७–१२४९

इन एक सौ इकतालीस शब्दों में जैन दर्शन की एक झलक मिल सकती है। जो शब्द अन्य परम्पराओं में भी प्रचलित हैं या सामान्य शब्द हैं, उनका विशेष अर्थ में प्रयोग जैनागम साहित्य में उपलब्ध होता है। **'शरीर'** एक सामान्य शब्द है, किन्तु जैन साहित्य में इसका प्रयोग स्थूल तथा सूक्ष्य दोनों प्रकार के शरीर के लिए हुआ है। यही नहीं, शरीर के जिन पाँच भेदों का वर्णन किया गया है, वह अन्य दार्शनिक साहित्य में नहीं मिलता। इसी प्रकार से **'समाधि'** शब्द का प्रयोग राग-द्वेष परित्याग रूप धर्मध्यान के लिए किया गया है। अतएव विशिष्ट संकेतों से द्योतित अर्थ साहित्य तथा परम्परा दोनों रूपों में समान भाव को प्रकाशित करने वाला है।

कोई भी व्यक्ति सामान्य रूप से इन शब्दों का अध्ययन कर इनके माध्यम से जैनदर्शन तक पहुँच सकता है। अधिकतर सरल शब्दों का संकलन किया गया है, पर ये गूढ़ अर्थों से गुम्फित हैं, यही इनका वैशिष्ट्य है। □

हमारी कोश-परम्परा और 'अभिधान राजेन्द्र'

श्रीमद् की महती भावना थी कि यह कोश उनके जीवन-काल में छप कर तैयार हो जाए। उन दिनों लीथोप्रेस का प्रचलन हुआ ही था। कोश का एक फॉर्म छाप कर श्रीमद् को बतलाया भी गया; किन्तु वह सन्तोषप्रद न होने से रोक देना पड़ा। गुरुदेव के देह-विलय (सन् १९०६) के पश्चात् लगभग चार लाख की लागत से 'जैन प्रभाकर प्रेस' की स्थापना रतलाम (मालवा) में इस कोश की छपाई हेतु की गयी। लगातार सत्रह वर्षों तक इसकी छपाई का कार्य श्रीमद् के दीक्षित मुनि श्री यतीन्द्रविजयजी एवं मुनिश्री दीपचन्दजी की देख-रेख में पूर्ण हुआ।

☐ **इन्द्रमल भगवानजी**

जैन आचार्यों एवं साहित्यकारों ने भारतीय साहित्य की विविध विधाओं को विभिन्न भाषाओं में अत्यधिक समृद्ध किया है। जैन तत्त्वज्ञान—तर्क पौराणिक आख्यान—नीतिग्रन्थ और जैन तत्त्व विद्या प्रभृति सिद्धान्त-ग्रन्थों में जैनधर्म का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है जिनकी प्रस्तुति में वास्तविक अर्थबोध हेतु बहुतेरे पारिभाषिक एवं विशेष अर्थ-गर्भित शब्दों का प्रयोग किया गया है। जैन साहित्य से अनभिज्ञ कोशकारों द्वारा निर्मित शब्दकोशों से ऐसे जैन पारिभाषिक और विशेषार्थ-गर्भित शब्दों के यथार्थ अर्थ का ज्ञान सम्भव नहीं। ऐसे पारिभाषिक शब्दों के विशेषार्थ के अज्ञानवश कभी-कभी कैसी गंभीर भूलें हो जाती हैं जिनके उदाहरण 'सत्यार्थ प्रकाश' में जैन मुनि की आलोचना करते 'रजोहरण' शब्द का भ्रान्त अर्थ तथा वेदों में प्रयुक्त 'व्रात्य' शब्द हैं। शब्दों के सम्यक् अर्थबोध हेतु जैन आचार्य एवं जैन ग्रन्थकारों ने शब्द-कोशों का निर्माण लगभग ग्यारह शताब्दी पूर्व तभी करना आरम्भ कर दिया था जब संसार की किसी भी अन्य भाषा की शब्द-सम्पदा के संकलन के आरम्भ का उल्लेख भी उपलब्ध नहीं। सर्वाधिक विश्व-प्रचलित आंग्ल (अंग्रेजी) भाषा के विश्व-कोश एन्सायक्लोपीडिया ब्रिटानिका का प्रथम संस्करण १७६८ ई. में तैयार हुआ था। उन दिनों छापेखाने (प्रिंटिंग-प्रेस) तो आविष्कृत थे नहीं। अतएव यह शब्दकोश हाथ से लिखकर कई लोगों ने लगभग बीस वर्षों में पूर्ण किया था। इसके पश्चात् इसी विश्व-कोश का दूसरा संस्करण नौ वर्ष पश्चात् हस्तलिखित रूप में नवीन सुधारों के साथ १७७७ ई. में तैयार हुआ।

इसी क्रम से सवा सौ वर्षों में अर्थात् सन् १९०२ तक इस महाकोश के आठ संस्करण क्रमशः तैयार किये गये। अब तक अनेकानेक सुधार-संशोधन करते

हुए इसके दसवें संस्करण तक कोशों का काम हस्तलिखित ही होता रहा। दसवें संस्करण का लेखन सन् १९०२ तक हुआ जो कुल ३१ जिल्दों में सम्पूर्ण हो सका। ग्यारहवाँ संस्करण लगभग १५० से अधिक विविध विषयों के विद्वान् लेखकों के सहयोग से तैयार कर न्यूयार्क के प्रेस में छपवा कर सन् १९१० में प्रकाशित किया गया था। चौदहवें संस्करण के सम्पादन-कार्य में ३५० से भी अधिक विद्वानों का सहयोग प्राप्त कर इसे सन् १९२३ में प्रकाशित किया गया। इसके आगे सन् १९३८ तक इन्साइक्लोपीडिया-ब्रिटानिका के कुल अठारह संस्करण अनेक जिल्दों में प्रकाशित किये जा चुके हैं। इस विश्व-कोश की तैयारी में अनेक विद्वानों का सहयोग, सदियों तक अनवरत श्रम और लाखों रुपयों का व्यय अंग्रेज सरकार द्वारा किया गया। इसका संकलन-संपादन-कार्य अब भी नियमित चल रहा है और अस्खलित आगे भी चलता रहे तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि विश्व-ज्ञान अपरिमेय है—उसे समूचा ग्रन्थबद्ध करना कभी सम्भव नहीं। अब तो प्रायः जगत् की बहुतेरी भाषाओं के कोश बन चुके हैं। हिन्दी जैसी विकसित भाषाओं के भिन्न अंगों की शब्द-सम्पदा के अलग-अलग कोशों का निर्माण कर शब्द-समृद्धि में वृद्धि किये जाने के शासकीय स्तर पर प्रयास किये जा रहे हैं जिससे उनका अभ्युदय सुनिश्चित है।

यूरोपीय भाषाओं में आंग्ल भाषा का विशिष्ट स्थान है। यूरोप के अतिरिक्त जहाँ-जहाँ अंग्रेजी उपनिवेश या शासन-व्यवस्था रही वहाँ अंग्रेजी भाषा का व्यवहार विस्तीर्ण हुआ; अतः संसार की समृद्ध भाषाओं में अंग्रेजी का स्थान सर्वोपरि है। इसके सुप्रसिद्ध एवं प्रामाणिक शब्दकोश 'एनसाइक्लोपीडिया-ब्रिटानिका' में साहित्य की परिभाषा इस प्रकार है : "साहित्य एक व्यापक शब्द है जो यथार्थ परिभाषा के अभाव में सर्वोत्तम विचार की उत्तमोत्तम लिपिबद्ध अभिव्यक्ति के स्थान में व्यवहृत हो सकता है। इसके विचित्र रूप जातीय विशेषताओं के अथवा विभिन्न व्यक्तिगत प्रकृति के अथवा ऐसी राजनैतिक परिस्थितियों के परिणाम हैं जिनसे एक सामाजिक वर्ग का आधिपत्य सुनिश्चित होता है और वह अपने भावों तथा विचारों का प्रचार करने में समर्थ होता है।"

साहित्य विषय में श्री विलियम हेनरी हडसन लिखते हैं : 'जैसे प्रत्येक ग्रन्थ की ओट से उसके रचयिता और प्रत्येक राष्ट्रीय साहित्य की ओट में उसे उत्पन्न करने वाली जाति का व्यक्तित्व छिपा रहता है; वैसे ही काल-विशेष के साहित्य की ओट में उस काल के जीवन को रूप विशेष प्रदान करने वाली व्यक्तिमूलक एवं अव्यक्तिमूलक अनेक सहशक्तियाँ काम करती रहती हैं।'...'साहित्य उन अनेक साधनों में से एक है जिसमें काल-विशेष की स्फूर्ति अपनी अभिव्यक्ति पाकर उन्मुक्त होती है। यही स्फूर्ति परिप्लावित होकर राजनैतिक आन्दोलन, धार्मिक विचार, दार्शनिक तर्क-वितर्क और कला में प्रकट होती है।' प्राचीन वेद-ग्रन्थों में पाये जाने वाले तीर्थंकरों के उल्लेख से प्रकट है कि जैनागम वेद-ग्रन्थों से प्राचीन

हैं। वेद संस्कृत भाषा में हैं जबकि तीर्थंकर-प्रवचनों के संकलन आगम अर्धमागधी-प्राकृत भाषा में हैं। प्राचीन प्राकृत का संस्कृत रूप ही संस्कृत भाषा है। बहुत प्राचीन काल से इन भाषाओं का हमारे देश में प्राबल्य रहा है। प्रादेशिक भाषाओं के विकास में इनकी शब्द-सम्पदा का प्रच्छन्न उपयोग हुआ है। अप्रमत्त देशाटन-विहार से प्रतिबद्ध जैन मुनिगण जनसाधारण में लोकभाषाओं के माध्यम से नियमित उपदेश-धारा बहाते रहे। इस प्रकार प्रादेशिक मर्यादाओं के रहते हुए भी आचार-विचार और भाषा-विषयक एकसूत्रता देश में अखण्ड रहीं।

लोकभाषाओं के सर्वाधिक सम्पर्क में रहने के कारण जैन मुनियों द्वारा रचित साहित्य में हमारे इतिहास एवं संस्कृति तथा भाषाओं के विकास-क्रम का प्रामाणिक और विशद विवरण उपलब्ध है, जिसके सम्यक् अनुशीलन के अभाव में भारतीय संस्कृति-इतिहास एवं भाषाओं के विकास-क्रम का सही आलेखन सम्भव नहीं है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उक्त कोशों का बड़ा महत्त्व है। अभिधान चिंतामणि की स्वोपज्ञवृत्ति, श्री हेमचन्द्राचार्य कृत देशी नाम-माला, अंगविज्जा, धनंजय-नाममाला पर श्री अमरकीर्ति का भाष्य, इत्यादि कतिपय शब्द-ग्रन्थों में तत्कालीन सांस्कृतिक विकास-सूचक शब्दों की अमूल्य निधि भरी है; जिनके अध्ययन से भाषा-विषयक विभिन्न गुत्थियों का समाधान हो सकता है। अमरकोश आदि संस्कृत के अनेक कोशों का निर्माण जैन लेखकों द्वारा किया गया है; किन्तु प्राकृत एवं देशी भाषाओं के कोश तो मात्र जैन लेखकों द्वारा ही निर्मित हैं। इनके उपरान्त कन्नड़-तमिल-अपभ्रंश-संस्कृत-गुजराती प्रभृति विभिन्न प्राचीन भाषाओं के अनेक पर्यायवाची एवं अनेकार्थवाची शब्द-कोशों की रचनाएँ जैन लेखकों ने की हैं। द्विसन्धान से लगाकर चतुर्विंशसन्धान के अनेक ग्रन्थों के उपरान्त कविप्रवर श्री समयसुन्दरगणि निर्मित 'अष्टलक्षीकोश' अनेकार्थवाची रचनाओं में सर्वोपरि अद्भुत रचना है। जिसमें एक वाक्य के आठ लाख से अधिक अर्थ किये गये हैं। इसकी रचना हुए चार सौ से अधिक वर्ष व्यतीत हुए। हमारे कोश-साहित्य पर संक्षेप में यहाँ कुछ विवरण दिया जा रहा है।

कवि धनंजय ने **नाममाला कोश, अनेकार्थनाममाला** और **अनेकार्थ निघंटु** नामक तीन कोश-ग्रन्थों का निर्माण किया। विख्यात **संस्कृत अमरकोश** जैन कवि अमरसिंहजी, जो कुछ प्रमाणों के अनुसार धनंजय के साले थे, द्वारा निर्मित है। प्रचलित अमरकोश में से जैन प्रमाण विषयक कई श्लोकों को हटा दिया गया है। और मंगलाचरण के शान्तिनाथ-वन्दना के श्लोक भी हटा दिये गये हैं। अमरसिंह जी का अस्तित्व नवीं शताब्दी में माना जाता है। कविवर धनपाल ने **पाइयलच्छी** नामक प्राकृत भाषा का एक सुन्दर पद्यबद्ध कोश वि. सं. १०२९ में लिखा। इनके बाद कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य ने अनेक कोशों की रचना की, जिनमें से **अभिधान चिंतामणि** नामक कोश मुख्य है। इसमें एक-एक शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्दों का संकलन है। दूसरा कोश 'अनेकार्थ संग्रह' में शब्दों के नाना अर्थों का

संग्रह है। 'अनेकार्थ निघण्टु' नामक तीसरे कोश में धान्यवस्त्रादिक पदार्थों के शब्दार्थों का संकलन है। **देशीनाममाला** नामक कोश में प्राकृत भिन्न देशीय भाषाओं के शब्दार्थों का संकलन है। ये चारों कोश बड़े महत्त्वपूर्ण हैं।

जैन संघ के आचार्य श्रीधरसेन अनेक राजाओं द्वारा मान्य और विविध शास्त्रों के पारगामी विद्वान् थे। उनका लिखा 'विश्वलोचन कोश', जिसका दूसरा नाम 'मुक्तावली कोश' है तथा जो एक अंत्याक्षरी कोश भी हैं, अपनी कोटि का अद्वितीय संस्कृत पद्यबद्ध कोश है। यह चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में लिखा गया था। कविवर धनंजय के नाममाला कोश पर अमरकीर्ति-कृत भाष्य के साथ स्वरविशिष्ट एक-एक अक्षर का अलग-अलग अर्थ बतलाया गया है। इस एकाक्षरी नाममाला के उपरान्त तीन और रचनाएँ निम्न अनुसार पायी गयी हैं—श्री राजशेखर-शिष्य श्रीसुधाकलश ने एकाक्षरी नाममाला नामक कोश पचास पद्यों में रचा। श्री जिनदत्तसूरि के शिष्य श्री अमरचन्द्र ने वर्णमाला क्रम से प्रत्येक अक्षर का अर्थ बतलाते हुए 'एकाक्षरी नाममाला-कोश' की रचना की थी। तीसरी रचना श्री विश्वशम्भू द्वारा ११५ पद्यों में लिखित ऐसा ही एकाक्षरी नाममाला कोश है। श्री विमलसूरि की 'देश्य शब्द समुच्चय' एवं अकारादिक्रम से 'देश्य शब्द निघण्टु' नामक महत्त्वपूर्ण कोश-रचनाएँ सोलहवीं शताब्दी में निर्मित हुई। श्री रामचन्द्र सूरि का 'देश्य निर्देश निघण्टु' भी इसी प्रकार की कोश-रचना है। **अभिधान-चिंतामणि कोश** के पूरक रूप में श्री जिनदेव सूरि ने पन्द्रहवीं शताब्दी में 'शिलोच्छनाम माला, नामक एक पूर्तिकोश की लगभग १४० पद्यों में रचना की है। श्रीपुण्यरत्नसूरि का द्व्यक्षर कोश कविवर एवं श्री असंग का 'नानार्थ कोश' भी विद्वत्तापूर्ण हैं। श्री हर्षकीर्ति सूरि के **'नाममाला कोश'** एवं **'लघुनामामला कोश'** पण्डित-भोग्य हैं। तपागच्छाचार्य श्री सूरचन्द्र के शिष्य भानुचन्द्र विजयजी ने 'नाम-संग्रह कोश' की रचना की थी। उपाध्याय साधुकीर्त्ति के शिष्य मुनि सुन्दरगणि ने 'शब्द-रत्नाकर कोश' की रचना की, जो छः काण्डों और १०११ श्लोकों में है। कविप्रवर श्री बनारसीदासजी ने महाकवि धनंजय की नाममाला के आधार पर 'हिन्दी नाममाला' नामक कोश की १७५ पद्यों में रचना की है।

भारत में कोश-साहित्य के निर्माण का कार्य जैन पण्डितों ने यद्यपि हजार-बारह सौ वर्ष पूर्व ही आरम्भ कर दिया था तथापि सर्वाधिक-व्यवस्थित अकारादि क्रम से शब्द संकलना व्युत्पत्ति-व्याकरण भेद-विशिष्टार्थ-संस्कृतानुवाद तथा भिन्न आचार्यो द्वारा शब्दों के सप्रसंगोल्लेखपूर्वक विविध अर्थो से युक्त एक ऐसे महाकोश की आवश्यकता समझी जा रही थी जिसके अवलम्बन से जैन शास्त्रों के सम्यक् अध्ययन के उपरान्त प्राचीन भारतीय साहित्य-इतिहास-दर्शन आदि के व्यवस्थित अनुशीलन का कार्य सर्वजनसुलभ हो। विदेशी विद्वानों की देखा-देखी भारतीय प्राचीन विद्याओं के मनन अन्वेषण में अनेक भारतीय पण्डित भी विगत युगों की संकीर्ण भावनाओं से ऊपर उठ कर मध्यस्थ भाव से जैनधर्म के ग्रन्थों के अध्ययन

की ओर उत्साह से प्रवृत्त हुए थे। तभी श्रीमद् ने 'अभिधान राजेन्द्र' विशद कोश के निर्माण की पहल कर जैन धर्मग्रन्थों के साथ भारतीय प्राचीन प्राकृत भाषाओं के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया। इस अभूतपूर्व-अद्वितीय महाकोश के प्रकाशन से प्रेरणा पाकर बाद में बंगला-हिन्दी-गुजराती-मराठी-संस्कृत-अर्द्धमागधी प्रभृति भाषाओं के कोशों के संकलन कार्यों में प्रगति हुई। जिसमें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से **'अभिधान राजेन्द्र महाकोश'** की सहाय्य प्राय: सभी में अपरिहार्य हुई। कोश-निर्माण के उस अभियान में जिन कृतियों का निर्माण हुआ उनका विवरण यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा।

'अभिधान राजेन्द्र' कोश के अनन्तर प्रान्तीय भाषाओं में सर्वप्रथम कोश-निर्माण का श्रेय एक पारसी विद्वान् को है, जिन्होंने अंग्रेजी-गुजराती लघुकोश को सन् १९०५ के करीब तैयार किया था। इसके पश्चात् सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने 'हिन्दी विश्व कोश' एवं 'बंगला विश्वकोश' के सम्पादन का कार्य सन् १९१५ में आरम्भ किया जो आंशिक रूप में मासिक छपता रहा। इन दोनों कोशों के निर्माण-काल में भारत में छापखानों का प्रचलन हो चुका था। श्री वसु महोदय रॉयल एशियाटिक सोसायटी के सदस्य थे। इन दोनों कोशों के निर्माण में विख्यात वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र वसु व पं. हरप्रसाद शास्त्री प्रमुख पचास से अधिक सलाहकार सदस्यगण और सम्पादकों का सहयोग प्राप्त किया गया था। सतत् तीस वर्षों तक इन कोशों का निर्माण-कार्य चलता रहा था। **'संस्कृत महाकोश'** (वाचस्पत्यभिधान) का निर्माण सन् १९२९ से प्रारम्भ हुआ जो सन् १९४० में पूर्ण किया जा सका था। इसके लेखक श्री तारानाथ वाचस्पति थे। **'संस्कृत कल्पद्रुम-कोश'** श्री राधाकान्त देव द्वारा तैयार किया गया था। गुजराती विद्यापीठ के सम्पादक-मण्डल द्वारा 'गुजराती सार्थ जोडणीकोश' की प्रथम आवृत्ति तैयार की जाकर सन् १९२८ में प्रकाशित हुई। नागरी प्रचारिणी सभा बनारस द्वारा 'बृहत् हिन्दी शब्द सागर' कोश (सात भाग) का निर्माण अनेक विद्वान् सम्पादकों द्वारा सन् १९०९ से सन् १९३० तक पूरा किया जा सका था। इन्हीं दिनों पं. मुनि रत्नचन्द्रजी शतावधानी महाराज द्वारा 'जैनागम शब्द' प्राकृत भाषा का लघुकोश तैयार किया गया जो सन् १९२६ में प्रकाशित है। इन्हीं महाराज द्वारा अर्द्ध-मागधीकोश (चार भाग) तैयार किये गये। इसके पश्चात् देश में अंग्रेजी एवं प्रादेशिक भाषाओं का व्यापक अध्ययन होने लगा। विद्यार्थियों की आवश्यकता के अनुरूप सभी भाषाओं में अनेक शब्दकोशों के प्रकाशन हुए; लेकिन इस बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में निम्न कोशों का प्रकाशन मुख्य रूप से गिना जा सकता है जिनका उपयोग जैन शास्त्रों के अध्ययन में विशेष सहायक है–

१. **पाइय सद्द महण्णवो** : संपादक–सेठ हरगोविंददास; प्रकाशक प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी।
२. **जैन लक्षणावलि-कोश** : संपादक बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री; वीर सेवा मन्दिर।
३. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश** (चार भाग) : श्री जिनेन्द्र वर्णी; भारतीय ज्ञानपीठ।

इन सभी कोश-ग्रन्थों के निर्माण में **अभिधान राजेन्द्र कोश** से न्यूनाधिक सहायता ली गयी है। श्रीमद् की अपेक्षा **अभिधान राजेन्द्र** की प्रसिद्धि अधिक हुई। एक बार सुप्रसिद्ध गुजराती पत्र में पण्डित बेचरदासजी दोशी की जीवनी प्रकाशित हुई जिसमें भूल से दोशीजी को 'अभिधान राजेन्द्र' का निर्माता बतलाया। ऐसी ही एक गम्भीर भूल हाल ही में प्रकाशित गुजराती-भारतीय अस्मिता ग्रन्थ में श्री के. सी. शाह लिखित लेख "प्राकृत भाषा अने साहित्य" में 'अभिधान राजेन्द्र' को श्री विजयेन्द्रसूरि रचित वतलाया है। यह धांधली विचारणीय है।

उपरोक्त कोशों का विवरण देने का प्रयोजन मात्न यही है कि प्रेस, संचार साधन, विद्वद् सहयोग, सन्दर्भ-ग्रन्थों एवं लेखन-प्रकाशन की उपादान-विपुलता रहते कई सम्पादकों के सहयोग द्वारा ही पच्चीस-तीस वर्षों के श्रम से इनका निर्माण किया जा सका है। तव 'अभिधान राजेन्द्र' के निर्माण में श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी द्वारा किये गये उस अदम्य पुरुषार्थ की सहज ही प्रतीति हो आती है कि अभावग्रस्त उस जमाने में आत्मसाधना एवं जन-कल्याणहेतु अन्धविश्वासों से निरन्तर संघर्षरत रहते जैन शास्त्रों के निचोड़ स्वरूप इस महानतम विशद कोश-शृंखला का निर्माण उन्होंने क्यों कर किया होगा? जीवन के अन्तिम क्षण तक उनकी कलम अबाध चलती रही; और भी कई शास्त्रों को लोकोपयोगी भाषा में आपने सुलभ किया। श्री हेमचन्द्राचार्य निर्मित **'सिद्धहेमशब्दानुशासन'** में से प्राकृत व्याकरण पर आपने संस्कृत लोकवद्ध विवृति लिखी जो प्राकृत व्याकरण-पाठी के लिए अतीव उपयोगी हैं। इसका प्रकाशन भी 'अभिधान राजेन्द्र' कोश के अन्तर्गत कर दिया गया है। इस महाकोश के निर्माण में लगभग सौ ग्रन्थों से सन्दर्भ लिये गये हैं जो जैन शास्त्र-शृंखला की मूर्धन्य कृतियाँ हैं। 'अभिधान राजेन्द्र' मात्न शब्दार्थ-कोश ही नहीं यह सन्दर्भ-ग्रन्थ भी है, जिसमें शब्दों के विषय में प्राय: उपलब्ध समग्र सन्दर्भों के संकलन किये गये हैं, जिनके आधार से जैन शास्त्र विषयक प्रत्येक अंग में वर्णित शब्दों के विशिष्टार्थों का भी बोध सहज ही हो सकता है।

'अभिधान राजेन्द्र' कोश मारवाड़ प्रदेश के सियाणा ग्राम में सन् १८८९ के चातुर्मास में आरम्भ कर चौदह वर्ष के सतत् लेखन के उपरान्त सन् १९०३ में सूरत (गुजरात) में समाप्त हुआ। इस मध्यावधि में सूरिजी ने मारवाड़-मेवाड़ मालवा-गुजरात-बनासकांठा के प्रदेशों में सहस्रों मील का तीन बार परिभ्रमण (विहार) किया। आहोर-सियाणा-बड़ीकडोद-रींगणोद आदि की प्रतिष्ठा-अंजन-शलाकाओं के महोत्सव किये। कई मुमुक्षुओं को भगवती दीक्षाएँ दीं। अनेक स्थलों पर धर्म चर्चाओं से निपटना पड़ा तथा 'अभिधान राजेन्द्र' कोश के साथ **पाइय सद्दंबुहि** नामक प्राकृत कोश और कल्पसूत्रार्थ बालाव बोधिनी प्रभृति अनेक ग्रन्थों का निर्माण आपने किया। अपने आदर्श मुनि-जीवन के अनुरूप ये नित्य अभिग्रह किया करते, जिसके कारण कई बार इन्हें निराहार रहना पड़ता। चातुर्मास काल में एकान्तर चउविहार उपवास-सांवत्सरिक व दीपमालिका को तेला–बड़े कल्प के बेला* और चैत्री–आश्विन की ओलिएँ आप नियमित करते। लेखन-उपकरण में पुरानी देशी कलमें और शुष्क स्याही को प्रात: आर्द्र कर शाम को सुखा दिया जाता था। ऐसी कठोर साधनाओं में 'अभिधान राजेन्द्र' का निर्माण हुआ।

---

* **बेला**–लगातार दो उपवास, **तेला**–लगातार तीन उपवास, **चउविहार उपवास**–निर्जल उपवास।

श्रीमद् निरन्तर श्रमशील रहे। लोककल्याण और आत्म-श्रेय के जीवन-मन्त्र से वे निरन्तर अभिषिक्त रहे।

'श्राम्यति इति श्रमण' :—जो समीचीन श्रम करते हुए श्रान्त होते हैं वे श्रमण हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश की निरुक्ति के अनुसार—

'श्रममानयति पंचेन्द्रियाणि मनश्चेति वा श्रमणः।'

'श्राम्यति संसारविषयेषु खिन्नो भवति तपस्यति वा श्रमणः।'

'श्रमु: तपसि खेदे च'

पाँचों इन्द्रियाँ तथा मन को तप: श्रम से श्रान्त करने वाले, अथवा संसार विषयों से उपरत होने वाले तपोनिष्ठ संन्यासी श्रमण कहे जाते हैं।

श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वजी ने 'अभिधान राजेन्द्र' में वर्णित उस श्रमण शब्द की निरुक्ति के अनुरूप अपने जीवन को जीया।

इनकी कथनी व करनी में कोई भेद-रेखा नहीं थी। बाह्याभ्यन्तर में वहाँ कोई अवगुण्ठन नहीं था। इनकी दैनंदिनी आराधना एक खुली पुस्तक थी। वे आत्मप्रसिद्धि से विरक्त थे। निरर्थक विवादों में उलझकर अपने लक्ष्य से वे कभी च्युत नहीं हुए।

श्रीमद् की महती भावना थी कि यह कोश उनके जीवन-काल में छपकर तैयार हो जाए। उन दिनों लीथो प्रेस का प्रचलन हुआ ही था। कोश का एक फार्म छाप कर श्रीमद् को बतलाया भी गया; किन्तु वह संतोषप्रद न होने से रोक देना पड़ा। गुरुदेव के देह-विलय (सन् १९०६) के पश्चात् लगभग चार लाख की लागत में 'जैन प्रभाकर प्रेस' की स्थापना मालवा रतलाम में इस कोश की छपाई हेतु की गयी। लगातार सत्रह वर्षों तक इस कोश की छपाई का कार्य श्रीमद् के दीक्षित मुनि श्री यतीन्द्र विजयजी एवं मुनि श्री दीपविजयजी के देख-रेख में पूर्ण हुआ। उक्त मुनिद्वय ने कोश-प्रकाशन के समस्त दायित्व का अन्ततः वहन कर अपनी आदर्श गुरु-भक्ति का परिचय दिया था।

'अभिधान राजेन्द्र' कोश १५" × ११" साइज के सात बड़े भागों में प्रकाशित है जिनकी कुल पृष्ठ-संख्या लगभग दस हजार है। विद्वद्सम्मत प्रायः सभी उपयोगी रचना प्रणालियों का इसमें समावेश कर इसे सर्वजनोपयोगी बनाया गया है। जैनधर्म, प्राकृत भाषा एवं जैनेतर दर्शन के अध्ययन के इच्छुक देशी-विदेशी अनेक विद्वान् वर्षों की प्रतीक्षा के अनन्तर इस दुर्लभ कोश को पाकर अत्यन्त लाभान्वित हुए; जिसकी उन्होंने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। देश-विदेश के प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थालयों में इसका संग्रह आदर के साथ किया गया है। इसका प्रथम संस्करण अब उपलब्ध नहीं। इसके परिवर्धित दूसरे संस्करण के प्रकाशन हेतु सम्बन्धित महानुभावों से इस प्रसंग पर अपेक्षा करते हुए श्रीमद् को भावपूरित श्रद्धाञ्जलि! □

जैन दर्शन में शब्द-मीमांसा

☐ डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री

आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों ने केवल भाषा के भाषिक पक्ष का ही नहीं, दार्शनिक पक्ष का भी विश्लेषण किया है। भाषा उच्चारणात्मक है, इससे ध्वनि-रूप में निःसृत भाषिक संकेतों में संस्कृति की यथार्थता का बोध होता है; इसलिए भाषा एक सहज वस्तु है। भाषा की स्वाभाविकता शब्दों में निहित रहती है। जैसे दर्शन आत्मसाक्षात्कार की स्थिति है, वैसे ही शब्द भाषा की स्थिति द्योतित करते हैं। शब्दों के बिना भाषा की कोई स्थिति नहीं है। भाषा का प्रत्यय शब्दों के द्वारा संकेतित होता है। दर्शन की भाषा चेतना के एक स्तर से दूसरे स्तर तक संक्रान्त होती है। दर्शन की अपनी पारिभाषिक शब्दावली, ज्ञान-मीमांसा तथा भावबोध है। यथार्थ में मौलिक रूप से विश्व के प्रत्येक पदार्थ तथा उसके विषय का वर्णन दार्शनिक दृष्टि से किया गया है। प्राचीनों ने क्या भाषा, क्या साहित्य, क्या व्याकरण सभी विषयों का दर्शन का आश्रय लेकर विश्लेषण एवं विवेचन किया है। उस दार्शनिक परम्परा की उद्धरणी अभिनव रूप में आज हमें लक्षित होती है।

प्रत्येक भारतीय दर्शन में द्वैत या अद्वैत की भूमिका पर चिन्तन हुआ है। पद-पदार्थ, शब्द, भाषा, जगत् और जीव आदि का विचार दार्शनिक चिन्तन से ओत-प्रोत है। जैनदर्शन में भी शब्द-मीमांसा निम्नलिखित बिन्दुओं पर की गयी है:–

१. आगमप्रमाण-मीमांसा,

२. शब्दार्थ-प्रतिपत्ति,

३. शब्द की अर्थवाचकता,

४. सामान्यविशेषात्मक अर्थ वाच्य है,

५. असाधु शब्दों में भी अर्थवाचकता है।

सामान्यतः जैनदर्शन यह मान कर चलता है कि पदपदार्थ, शब्द, भाषा, जगत्, जीव आदि द्वैतमूलक हैं, क्योंकि संसार सांयोगिक है। संयोग का अर्थ है दो मिले हुए। जो हमें एक दिखलायी पड़ता है, वस्तुतः वह एक न होकर दो है। शब्द भी भाव से नितान्त पृथक् नहीं है, क्योंकि वह अभावात्मक नहीं है। शब्द और अर्थ में स्वाभाविक शक्ति मानी गयी है जो अभिव्यंजनात्मक है। इसलिए शब्द द्वैत है; किन्तु शब्द में अर्थबोधकता रहती है। शब्द से भिन्न अन्य किसी पदार्थ से भाषा-रूप में अर्थबोध अभिव्यक्त नहीं होता है, इसलिए शब्द को मूल

रूप में स्वीकार किया है। शब्दाद्वैतवादी अखिल प्रत्ययों को शब्दानुविद्ध सविकल्पक मानते हैं। भर्तृहरि के वचन हैं :

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम ।।

(वाक्यपदीय १; १२४)

जैन-दर्शन की यह विशेषता है कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की भाँति शब्द तथा व्यवहार को भी प्रमाण माना गया है। लोक में जो व्यवहार प्रत्यक्ष अनुभव में आता है, उसे भी प्रमाण कहा गया है। यदि सभी प्रकार का ज्ञान शब्दानुविद्ध माना जाए, तो अर्थ शब्द से अभिन्न हो जाएगा या फिर दोनों में तादात्म्य मानना होगा; परन्तु अर्थ शब्द से निकलता है, शब्द कान से सुना जाता है, ध्वनियाँ अनुक्रम से सांकेतिक रूप में उच्चरित होती हैं, यह व्यवहार-सिद्ध है। शब्द के उत्पन्न होने की एक प्रक्रिया है, जो भौतिक है। इसलिए शब्दमात्र को नित्य मानना उचित नहीं है। इस विषय को ले कर जैनदर्शन में शब्द-मीमांसा विस्तार से की गयी है। इस शब्द-मीमांसा में सभी भारतीय दर्शनों की समालोचना कर अनेकान्त की भूमिका पर जैन-दृष्टि प्रस्तुत की गयी है। वस्तुतः यह एक स्वतन्त्र शोध-अनुसन्धान का विषय है। वर्तमान समय में अमेरिका में जो अनुसन्धान हुए हैं, उनसे यह एक अधुनातन विज्ञान बन चुका है और भाषा-शास्त्रीय दर्शन (लिंग्विस्टिक फिलॉसफी) के रूप में सतत् विकसित हो रहा है।

श्रीमद् राजेन्द्रसूरि ने "अभिधान राजेन्द्र" में 'सद्द' (शब्द) शीर्षक के अन्तर्गत (पृ. ३३८–३६६) शब्द का विस्तृत अनुशीलन किया है। उनकी मुख्य प्रतिपत्तियाँ इस प्रकार हैं :

(१) शब्द विकल्पात्मक है, इसलिए शब्दार्थ का अपोह नहीं हो सकता।
(२) अनुमान की भाँति शब्द भी प्रमाण है।
(३) शब्द आकाश का गुण नहीं है।
(४) शब्द भाव और अभाव रूप दोनों है।
(५) शब्द बाह्य अर्थ का वाचक है, अन्यथा संकेतित नहीं हो सकता है।
(६) शब्द अनेक रूप हैं—"सद्दाइं अणेगरूवाइं अहिआसए"।
(७) नय (अभिप्राय) भी शब्द है—"इच्छइ विसेसियतरं, पच्चुप्पन्नं नओ सद्दो"।
(८) शब्द पौद्गलिक है। शब्द पर्याय का आश्रय भाषा-वर्गणा है।
(९) शब्द सामान्य-विशेष दोनों है।
(१०) शब्द नित्यानित्यात्मक है।

१. केवल संकेत मात्र से अर्थ का ज्ञान नहीं होगा क्योंकि शब्दों में अर्थोत्पादक शक्ति विद्यमान रहती है। स्वाभाविक शक्ति तथा संकेत से अर्थ के ज्ञान करने को शब्द कहते हैं। वाच्य (अर्थ) की भाँति वाचक (शब्द) को भी समझना चाहिये। दोनों सर्वथा निरपेक्ष नहीं हैं। वे एक होकर भी अनेक हैं। वाचक वाच्य से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। 'क्षुर' (छुरा), 'अग्नि' और 'मोदक' शब्दों का उच्चारण करते समय बोलने वालों के मुख और सुनने वालों के कान 'छुरा' शब्द से नहीं छिदते, 'अग्नि' शब्द से नहीं जलते, और 'मोदक' शब्द से मधुरता से नहीं भर जाते; इसलिए वाचक और वाच्य अभिन्न हैं। जिस समय जिस शब्द का उच्चारण होता है, उस समय उस शब्द से उसी वस्तु का बोध होता है। इस कथन से यह स्पष्ट है कि विकल्प से शब्द उत्पन्न होते हैं, क्योंकि 'गाय, कहने से 'गौ' के भाव के कारण 'गाय' अर्थ का ही बोध होता है। इसी प्रकार से शब्द से विकल्प उत्पन्न होते हैं, शब्द सुन कर ही भाव उत्पन्न होता है। अतएव शब्द और विकल्प दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध है। अर्थ, अभिधान तथा प्रत्यय ये पर्यायवाची शब्द हैं। शब्द और अर्थ में कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है। अतएव शब्द विकल्प से प्रस्तुत होते हैं। कहा भी है—

विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः।
कार्यकारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि॥

२. पदार्थों को जानने में ज्ञान कारण है, इसलिए स्व-पर का निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण है; जैसे पत्थर के दो टुकड़ों को जोड़ने वाले लाख आदि पदार्थों का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वैसे पवन, मन आदि का नहीं होता। किन्तु हम अनुमान प्रमाण से मूर्त, अमूर्त वस्तु की क्रियाओं से उसका ज्ञान करते हैं। यह मनुष्य मेरे वचनों को सुनना चाहता है क्योंकि इसकी अमुक भाव-भंगिमा तथा चेष्टा है, यह ज्ञान बिना अनुमान के नहीं होता। इसी प्रकार यह युवक जिन बोलों को बोल कर गया है, उनका यही भाव है—यह अनुमान प्रमाण का विषय नहीं है, क्योंकि शब्द में अर्थ है और भाव को प्रकट करने के लिए शब्द का प्रयोग है एवं आप्तों के द्वारा कहे गये वचन प्रमाण हैं, इस से शब्द स्वयं स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। आगम या शास्त्र इसीलिए प्रमाण हैं कि प्रामाणिक महापुरुषों की वाणी उसमें है।

३. शब्द आकाश का गुण नहीं है; क्योंकि वह रूप, रस, गन्ध, स्पर्श की भाँति इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है। सजातीय वस्तुओं के समुदाय को वर्गणा कहते हैं। जिन पुद्गल वर्गणाओं से शब्द बनते हैं, उनको भाषा-वर्गणा कहते हैं। शब्द भाषा-वर्गणा है; आकाश का गुण नहीं है। स्पर्श गुण से युक्त होने के कारण जैसे गन्ध के आश्रित परमाणु वायु के अनुकूल होने पर दूर-स्थित मनुष्य के निकट पहुँच जाते हैं, वैसे ही शब्द के परमाणु भी वायु के अनुकूल होने पर सुदूर प्रान्त स्थित श्रोता के पास जा पहुँचते हैं; जैसे गन्ध इन्द्रिय का विषय होने से पौद्गलिक है, वैसे

ही शब्द भी इन्द्रिय का विषय होने से पौद्गलिक हैं। जैसे सघन प्रदेश में पहुँचने के लिए गन्ध अवरुद्ध नहीं होता, वैसे ही शब्द के सन्तरण में भी किसी प्रकार का अवरोध उत्पन्न नहीं होता; परन्तु किसी आलमारी में या शीशी में गन्ध द्रव्य को भर कर स्थान बन्द कर रखने पर जिस तरह गन्ध का आना-जाना रुक जाता है, उसी तरह शब्द के रूप में ध्वनि-तरंगों को यन्त्र में भर लेने पर या निर्वात स्थान पर रोक कर रखने पर शब्द संचरण नहीं कर पाता है।

४. शब्द भाव और अभाव रूप है। एक विषय का वाचक शब्द अनेक विषयों का वाचक हो सकता है, इसलिए भी शब्द भाव और अभाव रूप है। जैसे बड़े और मोटे पेट के लिए 'घट' शब्द का व्यवहार होता है, किन्तु योगी शरीर को ही 'घट' कहते हैं; 'चौर' शब्द का सामान्य अर्थ 'चोर' है, किन्तु दक्षिण प्रान्त में 'चौर' का अर्थ 'चावल' होता है; 'कुमार' शब्द का सामान्य अर्थ 'कुँआरा' होने पर भी पूर्व देश में 'आश्विन-मास' प्रचलित है; 'कर्कटी' शब्द का अर्थ 'ककड़ी' प्रसिद्ध होने पर भी कहीं-कहीं इसका अर्थ 'योनि' किया जाता है। अत: केवल संकेत मात्र से अर्थ का ज्ञान नहीं होता; क्योंकि शब्दों में ही सब अर्थों को जताने की शक्ति होती है।

[सामान्यविशेषात्मकस्य, भावाभावात्मकस्य च वस्तुनः
सामान्यविशेषात्मको, भावाभावात्मकश्च ध्वनिर्दाचक इति।
—स्याद्वादमंजरी, अन्य. यो. व्य. श्लोक १४]

५. शब्द बाह्य अर्थ का वाचक है। बौद्ध अर्थ को शब्द का वाच्य नहीं मानते। वे कहते हैं कि शब्द अर्थ का प्रतिपादक नहीं हो सकता; किन्तु स्वाभाविक योग्यता और संकेत के कारण शब्द तथा हस्तसंज्ञा (चुटकी बजाना, हाथ हिलाना आदि) आदि वस्तु की प्रतिपत्ति कराने वाले होते हैं। वस्तुत: अर्थ और आलोक ज्ञान के कारण नहीं हैं। जैसे दीपक न तो घट से उत्पन्न हुआ है और न घट के आकार का है, फिर भी वह घट का प्रकाशक है; उसी प्रकार ज्ञान न तो घट-पट आदि पदार्थों से उत्पन्न होता है और न उनके आकार का है, फिर भी उन पदार्थों को जानने वाला होता है।

'शब्द अर्थ के वाचक हैं' यह सिद्ध हो जाने पर मीमांसक और वैयाकरणों का यह आग्रह क्यों है कि सभी शब्दों में वाचक शक्ति नहीं है; केवल संस्कृत शब्द ही 'साधु' हैं, इतर भाषाओं के शब्द 'असाधु' या 'अपशब्द' हैं। जाति, कर्म तथा वर्ग की भाँति जैन-दर्शन ने भाषा की भी पूर्ण स्वतन्त्र चेतना को स्वीकार कर सभी भाषाओं के शब्दों के साधुत्व को माना है और उनमें शक्ति भी मानी है।

६. शब्द के अनेक रूप हैं। जैनागमों में शब्द को एक भी कहा है और अनेक भी। यथा—

"एगे सद्दे"—स्थानांग. १ ठा. सू. ४७

शब्द वाचक है—"**कालादिभेदेन ध्वनेरर्थाभेदं प्रतिपद्यमाने शब्दे—शब्दनिक्षेप: नामस्थापनाद्रव्यजीवभेदात् चतुर्धा शब्द:।**" नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से शब्द चार प्रकार का है। शब्द के और भी भेद हैं—

शब्द दो प्रकार का है : भाषाशब्द, नोभाषाशब्द। भाषाशब्द के भी दो भेद हैं—अक्षरसम्बद्ध और नो अक्षरसम्बद्ध। नो भाषा-शब्द के भी दो भेद हैं—आयुज्य-शब्द तथा नोआयुज्य-शब्द। (सूत्र कृतांग. ८१)

७. नय भी शब्द है। अभिप्राय विशेष को शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाता है, इसलिए उपचार से नय को भी शब्द कहा जाता है। जैसे वस्तु के पास में होने पर 'परिग्रही' कहा जाता है। वास्तव में वह वस्तु हमारे भीतर नहीं चली जाती है, उपचार से ऐसा कहा जाता है। इसी तरह से नय को भी शब्द उपचार से कहते हैं—

सवणं सपइ स तेणं, व सप्पए वत्थु जं तओ सद्दो।
तस्सत्थपरिग्गहओ, नओ वि सद्दो त्ति हेउत्व।।२२२।।

(अभिधान-राजेन्द्र, खण्ड १, पृ. ३६७)

८. शब्द पौद्गलिक है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि गन्ध द्रव्य, सूक्ष्म रज तथा धूम की भाँति शब्द भी पुद्गल की पर्याय है। शब्द स्वयं और शब्द की उत्पत्ति भौतिक है। शब्द भौतिक प्रक्रिया से गुजर कर ही हम तक पहुँचता है।

९. शब्द सामान्य-विशेष दोनों है। वास्तव में सभी पदार्थ सामान्य-विशेप रूप हैं। सामान्य व्यापक नहीं है। इसलिए सामान्य के विशेप से अभिन्न होने पर अनेक सामान्य और विशेष के सामान्य से अभिन्न होने पर विशेप भी एक रूप होते हैं। विशेष भी सामान्य से एकान्ततः भिन्न नहीं है। प्रमाण की अपेक्षा से एक ही पदार्थ में सामान्य और विशेष, एक और अनेक कथंचित् विरुद्ध कहे जा सकते हैं, किन्तु सर्वथा विरुद्ध कहना असिद्ध है। शब्दत्व सब शब्दों में एक होने के कारण एक है और शंख, धनुप, तीव्र, मन्द, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि के भेद से अनेक है।

१०. शब्द नित्यानित्यात्मक है। नित्य शब्दवादी मीमांसकों के मत के अनुसार शब्द सर्वथा एक है और अनित्य शब्दवादी बौद्धों के अनुसार शब्द सर्वथा अनेक हैं। परन्तु प्रत्येक वस्तु स्वरूप से विद्यमान है, पर रूप से विद्यमान नहीं है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने भी कहा है—"वाचक वाच्य से भिन्न भी है और अभिन्न भी है।"

इस प्रकार जैन-दर्शन में सभी दर्शनों की मूलगामी दृष्टि को सामने रख कर शब्द की मीमांसा विस्तार से की है। 'अभिधान राजेन्द्र' में आगम ग्रन्थों के महत्त्वपूर्ण अंशों का संकलन उद्धरण रूप में लक्षित होता है। शब्द-मीमांसा पर भी विभिन्न अंश संकलित हैं। उन सबका दिग्दर्शन कराना न तो इस छोटे-से लेख में सम्भव है और न इष्ट है। □□

दिनकर सोनवलकर

इम्तहान

लगता था
अब वाणी थम जाएगी
नहीं मिलेंगे शब्द
अभिव्यक्ति के लिए।
और मैं
भीतर-ही-भीतर
सिमटने लगा
गुमसुम; पूरी तरह हताश।
पस्त – हिम्मत
कि अब शब्दों से मेरी यारी
हमेशा के लिए छूट जाएगी
साथ रह जाएगी
सिर्फ दुनियादारी।
और मैं चुप हो गया
देखता रहा अपने को
दूसरों की निगाहों में।
तभी अचानक
चेतना के खण्डहर में
अकस्मात् दरारें पड़ीं
और आश्चर्य से देखा मैंने
कि शब्दों के खजाने
दबे पड़े हैं।
न शब्द चुके थे
न उन्होंने छोड़ा था मेरा साथ।
वे बस
मेरे धीरज का इम्तहान लेने
छिप गये थे। □

रस-ग्रहण

मेरी बातों के मर्म तक
तुम
पहुँच जाते हो
अनायास।
इसलिए नहीं
कि उनमें कोई मौलिकता है;
सिर्फ इसलिए
कि तुम्हारे भीतर ही कहीं हैं
उस अनुभव के
मूल संदर्भ
जिनमें बँध कर
मेरी ध्वनि-लहरियाँ
हो उठती हैं
सार-गर्भ।

संभावनाएँ

शब्द भी जोड़ते हैं
आदमी को आदमी से
अगर उनमें
गहरी खाइयों के बीच
सेतु बनने की
क्षमता हो।
शब्द भी
बनते हैं घावों पर मरहम
यदि उनमें
[illegible], नम्रता,
ममता हो।
शब्द भी
बन सकते हैं हथियार
अगर वे
फौलादी संकल्पों से
बने हों।
शब्द भी
बन सकते हैं मंत्र
यदि वे
कर्मठ समर्पण में
सने हों। □

पछतावा

तुमने तो
अनन्त शब्द दिये थे !
हम ही करते रहे
उनकी फिजूलखर्ची
अपने विकारों का
बौद्धिक स्पष्टीकरण करते हुए
—निरर्थक।
अब
जब पकड़ में आने लगे हैं
कुछ सूत्र जीवन के
जगत् के
मानव-मन के
तब पछताते हैं—
कितना बहुत-सा है कहने को
शब्द मगर थोड़े;
ओ रे अभागे
तूने अनुभवों के साथ-साथ
शब्द भी क्यों नहीं जोड़े ?
तुमने तो
अनन्त शब्द दिये थे। □

माध्यम नहीं हैं शब्द

कुछ शब्द घिस-घिसाके अनीदार हो गये।
छूटे तो छूटते ही आरपार हो गये ।।

चलते हुए उतार में फिसले जो देवता !
कल तक के शव आज के प्रतिहार हो गये।।

हम सबके ये पितर हैं करे कौन पिंडदान ?
वटवृक्ष ये पीपल-से हवादार हो गये ।।

जो शान पर चढ़े हैं समय ही करेगा तय—
सप्तक खटाऊ हैं कि तार-तार हो गये।।

खोटे चले खरे को चलन से निकालकर
कुछ सुर्खियों में छपके समाचार हो गये।।

कितनी है आनबान कि झुकते नहीं तनिक—
शायद ये शब्द ब्रह्म हैं साकार हो गये।।

अनुभूति से चले ये जो अभिव्यक्ति के हुए,
भाषा को दें दुआ कि कलाकार हो गये।।

सोचा न विचारा कहीं इनके बिना कभी—
बच्चे नहीं हैं शब्द समझदार हो गये।।

माध्यम नहीं हैं मात्र कि ओढ़ा बिछा लिया,
हम इन-से जब हुए तो लगातार हो गये।।

☐ नईम

अभिधान-राजेन्द्र कोश में आगत कुछ शब्दों की निरुक्ति

☐ डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री

शब्द-कोशों की परम्परा में "अभिधान राजेन्द्र" यथार्थ में एक विशिष्ट उपलब्धि है। तपागच्छीय श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरि की जीवन-साधना का यह ज्वलन्त उदाहरण है। सात भागों में तथा दस हजार पाँच सौ छियासठ पृष्ठों में प्रकाशित यह कोश वस्तुतः एक विश्वकोश के समान है, जिसमें जैनागमों तथा विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों के उद्धरण संकलित कर विस्तृत विवेचन किया गया है। इस महान् कोश का संकलन कार्य मरुधर प्रान्त-स्थित सियाणा नगर में वि. सं. १९४६ की आश्विन शुक्ल द्वितीया के दिन प्रारम्भ किया गया था। यह वि. सं. १९६० चैत्र शुक्ल त्रयोदशी भगवान महावीर-जयन्ती के दिन सूर्यपुर (सूरत) गुजरात में निर्मित हो कर सम्पूर्ण हुआ है। लगभग साढ़े चौदह वर्षों की अविश्रान्त अनवरत साधना के परिणामस्वरूप यह आज वृहत् कोश के रूप में विद्यमान है। इसमें साठ हजार शब्दों का संकलन है। अधिकतर शब्दों की व्याख्या तथा निरुक्ति की गयी है। इसमें केवल सूरीश्वर महाराज जी की विशिष्ट ज्ञान-साधना ही नहीं, वरन् श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी, मुनिश्री दीपविजयजी और मुनिश्री यतीन्द्रविजयजी आदि की दीर्घ साधना भी परिलक्षित होती है। "अभिधान राजेन्द्र" कोश का प्रथम भाग १९१३ ई. में और सप्तम भाग १९३४ ई. में रतलाम (म. प्र.) से प्रकाशित हुआ था।

"अभिधान राजेन्द्र" कोश में व्याख्या-भाग अधिक है। कई शब्दों की व्याख्या में सन्दर्भ पुरःसर कथाओं का भी वर्णन है। केवल "शब्दाम्बुधि" कोश में वर्णानुक्रम से प्राकृत भाषा के शब्दों के संकलन के साथ संस्कृत एवं हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। "अभिधान-राजेन्द्र" में प्राकृत का संस्कृत अनुवाद मात्र है। इस कोश की मुख्य विशेषता यही है कि इसमें शब्दों की निरुक्ति भी दी गयी है। यथार्थ में निरुक्ति के अभाव में कोश शब्द-संग्रह मात्र हो जाता है। निरुक्ति से भाषा के भण्डार को समझने में वहुत वड़ी सहायता मिलती है। हम यहाँ पर कुछ शब्दों की निरुक्ति प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनमें जैन दर्शन की आत्मा सन्निहित है।

अणेगंत—अनेकान्त—त्रि.। न एकान्तो नियमोऽव्यभिचारी यत्र। अनियमे, अनिश्चितफलके च। अम्यते गम्यते निश्चीयते इत्यन्तो धर्मः। न एकोऽनेकः। अनेक

श्चाऽसावन्तश्चानेकान्तः। स आत्मा स्वभावो यस्य वस्तुजातस्य तदनेकान्तम्। (जिल्द १, पृ. ४२३)

अनेकान्त का अर्थ है—अनेक धर्म वाला। यह कोई अनिश्चितता नहीं है। जिससे एक नहीं, अनेक धर्म निश्चित किये जाते हैं, उसे अनेकान्त कहते हैं। वस्तु अनेकधर्मी है। अनेकान्त आत्मा का स्वभाव है।

अब्भुट्ठाण—अभ्युत्थान—न.। आभिमुख्येनोत्थानमुद्‌गमनमभ्युत्थानम्। तदुचितस्यागतस्य अभिमुखमुत्थाने। ससंभ्रमासनमोचने। आसन से उठ कर आगत व्यक्ति की विनय करना, स्वागत-सत्कार करना। उठ करके सामने जाना यह 'अभ्युत्थान' शब्द का निरुक्तिमूलक अर्थ है। (१. ६९३)

अभिग्गह—अभिग्रह—पुं.। आभिमुख्येन ग्रहोऽभिग्रहः—निशीथचूर्णि २ उ.। अभिगृह्यत इत्यभिग्रहः। प्रतिज्ञाविशेषे, आव. ६ अ.। (१. ७१४)

विशेष रूप से प्रतिज्ञा लेना 'अभिग्रह' है। 'अभिग्रह' शब्द का अर्थ है—मुख्य रूप से ग्रहण करना।

अरहंत—अर्हत्—पुं.। अर्हन्ति देवादिकृतां पूजामित्यर्हन्तः। अथवा नास्ति रहः प्रच्छन्नं किञ्चिदपि येषां प्रत्यक्षज्ञानित्वा तेऽरहन्तः। शेषं प्राग्वत्। एते च सलेश्या अपि भवन्तीति।स्था नांग ३, ठा. ४ उ.। अमरवरनिर्मिताऽशोकादिमहाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः। अविद्यमानरहस्येषु, अनु.। दशा. १ अ.। पं. सू.। (१. ७५५)

"अरहंत" शब्द 'अर्ह्' धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है पूजा। जो देव, इन्द्र आदि के द्वारा पूजे जाते हैं, उन्हें अर्हन्त कहते हैं। जिनको पूर्ण ज्ञान (कैवल्य) की उपलब्धि हो जाने के कारण कुछ भी प्रच्छन्न नहीं रह जाता, वे अरहन्त हैं। जिनके महाप्रातिहार्य प्रकट हो जाते हैं और देव जिनकी पूजा करते हैं, वे अर्हन्त हैं।

अप्पा—आत्मन्—पुं.। अतति सातत्येन गच्छति ताँस्तान् ज्ञानदर्शनसुखादिपर्यायानित्याद्यात्मादि शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तसम्भवात्। (१, ६१६)

जो सतत गमन करता है, वह आत्मा है। जो ज्ञान, दर्शन, सुख आदि पर्यायों के साथ नित्य तथा परिणमनशील है, उसे आत्मा कहते हैं।

आगम—आगम—पुं.। आ—गम्—घञ्। आगतौ, प्राप्तौ च। वाच.। "जेण आगमो होइ" ॥३२॥ आप्तवचनादाविर्भूतमर्थं संवेदनमागमः इति। (२. ६१)

'आगम' शब्द का अर्थ है—आया, प्राप्त हुआ। सच्चे देव के द्वारा कही हुई वाणी से प्रसूत अर्थ 'आगम' है।

आय—आय—पुं.। आगच्छतीत्यायः। द्रव्यादेर्लाभे, सूत्र. १, श्रु. १०,अ. १० गाथा टीका। (२. ३२०)

जो आता है, उसे 'आय' कहते हैं। द्रव्य आदि का लाभ होना।

अव्वाबाह—अव्याबाध–न.। न विद्यते व्याबाधा यत्र तदव्याबाधम्। द्रव्यतः खड्गाद्यभिघातकृतया, भावतो मिथ्यात्वादिकृतया, द्विविधया अपि व्याबाधया रहितः। (१. ८१७)

जिसमें कोई बाधा न हो, उसे अव्याबाध कहते हैं। बाधा-रहित, 'अव्याबाध' है। द्रव्य रूप में खड्ग, कृपाण आदि की बाधा से रहित और भाव रूप में मिथ्यात्व (अज्ञान) आदि दोनों प्रकार की बाधाओं से रहित।

उईरणा—उदीरणा–स्त्री.। अनुदय प्राप्तं कर्मदलिकमुदीर्यते उदयावलिकायां प्रवेश्यते यया सा उदीरणा। (२. ६५९)

उदय में आये बिना, फल दिये बिना झड़ जाना।

उग्गह—अवग्रह–पुं.। अवग्रहः अनिर्देश्य सामान्य मात्र रूपार्थग्रहणरूपे श्रुतनिश्चितमतिज्ञानभेदे। "अत्थाणं उग्गहणं अवग्गहं इति" निर्युक्ति गाथा। (२. ६९७)

बुद्धि के द्वारा सामान्य रूप से शास्त्र से निर्णीत आकार तथा अर्थ ग्रहण करना।

उववाय—उपपात–पुं.। उप पत् घञ् हट्टादागतौ, फलोन्मुखत्वे, नाशे, उप-समीपे पतनमुपपातः। दृग्विषय-देशावस्थाने, "आणा णिद्देसयरे गुरूणमुववायकारए" उत्तरा. १ अ. (२. ९१४)

उसभ—ऋषभ–पुं.। ऋषति गच्छति परमपदमिति ऋषभः। उदत्वादौ ८।१।१३१ इत्युत्वे उसहो वृषभ इत्यपि। वर्षति सिंचति देशना जलेन दुःखाग्निना दग्धं जगदिति अस्यान्वर्थः। (२. ११११३)

कसाय—कषाय–पुं. न.।

सुहदुक्खबहुसहियं, कम्मखेत्तं कसंति जं जम्हा।
कलुसंति जं च जीवं, तेण कसाइत्ति वुच्चंति।। –प्रज्ञा. १३ पद

बहुत सुख-दुःख के साथ जो कर्म-रूप खेत को जोतती है और जीव को कलुषित करती है, उसे कषाय कहते हैं। "कष शिषेत्यादि हिंसार्थो दण्डकधातुः कष्यन्ते बाध्यन्ते प्राणिनोऽनेनेति कषं कर्मभवो व तदायो लाभ एषां यतस्ततः कषायाः क्रोधादयः।" (३. ३९४)

"कषाय" शब्द 'कष्' धातु से बना है, जिसका अर्थ हिंसा करना है। जो प्राणियों को कर्मजन्य क्रोध, मान, माया आदि से पीड़ित करती है, उस पीड़ा का लाभ पहुँचाना कषाय है।

कारण—कारण–न.। कारयति क्रियानिर्वर्तनाय प्रवर्तनीय प्रवर्तयति। कृ–णिच्–ल्युट्। क्रियानिष्पादके। (३. ४६५)

क्रिया की निवृत्ति और प्रवर्तन की प्रवृत्ति कराने वाला कारण है। यह 'कारण' शब्द 'कृ' धातु (करना) से निष्पन्न हुआ है। क्रिया निष्पन्न करने वाला कारण है।

खंध—स्कन्ध। स्कन्दन्ति शुष्यन्ति क्षीयन्ते च पुष्यन्ते पुद्गलानां चटनेन विचटनेन चेति स्कन्धाः। (३. ६९८)

जो सूखते हैं, क्षीण होते हैं, बढ़ते हैं ऐसे पुद्गलों के जुड़ने-बिछुड़ने को स्कन्ध कहते है।

खवणा—क्षपणा। क्षपणमपचयो निर्जरा पापकर्मक्षपणहेतुत्वात् क्षपणा। भावाध्ययने सामायिकादि श्रुतविशेषे, अनु.। आ. म.। अस्या 'अवणा' इत्यादि रूपं भवति। (३. ७३३)

'क्षपणा' शब्द 'क्षपण' से बना है, जिसका अर्थ है—खपाना, क्षय करना। पूर्व में बाँधे हुए पाप कर्मों को खपाना, झड़ाना 'क्षपणा' है। इसका एक अर्थ 'ध्यान' भी है। सामायिक में ध्यान की विशेष स्थिति को 'क्षपणा' कहा जाता है।

चेइय—चैत्य। चितिः पत्रपुष्पफलादीनामुपचयः। चित्या साधु चित्यं, चित्यमेव चैत्यं। उद्याने। चित्तमन्तःकरणं तस्य भावे। जिनबिम्ब। (३. १२०५)

'चैत्य' शब्द 'चितिः' से निष्पन्न है। चिति का अर्थ है—पत्र, पुष्प, फल आदि का ढेर (समाधि-स्थल)। साधु को भी 'चित्य' कहते हैं। जहाँ साधु रहते हैं, उस स्थान या उद्यान को भी 'चैत्य' कहा जाता है। 'चिति' का अर्थ 'चित्त' भी है—जिनबिम्ब में जिसके चित्त का भाव है, उसे 'चैत्य' कहते हैं।

जिण—जिन। जयति निराकरोति रागद्वेषादिरूपानरातीनितः जिनः। जयति रागद्वेषमोहरूपानन्तरङ्गान् रिपूनिति जिनः। (४. १४५९)

'जिन' शब्द 'जि' धातु से निर्मित है। जीतने वाला 'जिन' है—जो राग, द्वेष आदि अन्तरंग शत्रुओं को जीतता है।

णरग—नरक-पुं.। नरान् कायन्ति शब्दयन्ति योग्यताया अनतिक्रमेणाऽऽकारयन्ति जन्तून् स्वस्वस्थाने इति नरकाः। (४. १९०४)

जहाँ लड़ते-झगड़ते मनुष्यों पर चिल्लाते हैं, वह स्थान नरक है।

तित्थ—तीर्थ। तीर्यतेऽनेनेति तीर्थम्। (४. २२४२)

जिससे पार उतरते हैं, उस घाट को तीर्थ कहते हैं।

दव्व—द्रव्य। द्रवति गच्छति तांस्तांन् पर्यायानिति द्रव्यम्।

जो परिणमनशील है, जिसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, उसे द्रव्य कहते हैं।

परिग्गह—परिग्रह। परिगृह्यन्ते आदीयतेऽस्मादिति परिग्रहः। (५. ५७१)

चारों ओर से ग्रहण या पकड़ का नाम परिग्रह है।

परिणाम—परि समन्तान्नमनं परिणामः। परीति सर्वप्रकार नमनं जीवानामजीवानां च जीवत्वादिस्वरूपानुभवनं प्रति प्रह्वीभवने, उत्त. १, अ.। (५. ५९२)

चारों ओर से झुकना परिणाम है। सब प्रकार से जीव और अजीव का अपने रूप झुकना व अनुभव करना परिणाम है।

पमाय—प्रमाद—प्रकर्षेण माद्यन्त्यनेनेति प्रमादः। प्रमादतायाम्। (५. ४७९)

बहुत अधिक असावधान होना प्रमाद है।

परिसह—परीषह। परीति समन्तात् स्वहेतुभिरुदीरिता मार्गच्यवननिर्जरार्थं साध्वादिभिः सह्यन्ते इति परीषहा। (५. ६३७)

कर्मों की निर्जरा के लिए साधुओं का चारों ओर से बाधा होने पर सहन करना परीषह है।

प्रवचन---प्रोच्यतेऽनेनास्मादस्मिन् वा जीवाऽऽदयः पदार्था इति प्रवचनम्।

जिन वचनों के द्वारा या जिन वचनों में जीव अजीव आदि पदार्थों का व्याख्यान किया जाता है, उसे प्रवचन कहते हैं।

समण---श्रमण। समिति समतया शत्रुमित्रादिषु अणति प्रवर्तते इति समणः। स्थानांग ४ ठा. ४ उ.। (७. ४१०)

शत्रु-मित्रादिकों पर समताभाव से वर्तन करने वाला श्रमण है।

समय---न.। सममेव समकम्। सम्यगवैपरीत्येनायन्ते ज्ञायन्ते जीवादयोऽर्था अनेनेति समयः, सम्यगयन्ति गच्छन्ति जीवादयः पदार्थाः स्वास्मिन् रूपे प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्ति अस्मिन्निति समयः। (७. ४१८)

सम होना ही समय है। जिससे सम्यक् रूप से जीव, अजीव आदि पदार्थ जाने जाते हैं, वह समय है। जीवादि पदार्थ अपने ही रूप में परिणमन व गमन करते हैं, उस आत्मा को भी 'समय' कहते हैं।

सामाइय---सामायिक--न.। रागद्वेषविरहितः समस्तस्य प्रतिक्षणमपूर्वापूर्वकर्मनिर्जराहेतुभूताया विशुद्धेरायोलाभः समायः स एव सामायिकम्। विशे.। 'सामायिकम्' इति समानां ज्ञानदर्शनचारित्राणां आयः--समायः, समाय एवं सामायिकं विनयादि पाठात् स्वार्थे ठक्। (७. ७०१)

राग-द्वेष रहित स्थिति की उपलब्धि के लिए प्रत्येक क्षण अपूर्व कर्म-निर्जरा की हेतुभूत विशुद्धि का जिसमें लाभ होता है, वह सामायिक है। सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्राप्ति होना भी सामायिक है।

सावग(य)---श्रावक पुं.। शृणोति जिनवचनमिति श्रावकः। (७. ७७९)

जो जिनेन्द्रदेव के वचन सुनता है, उसे श्रावक कहते हैं।

सावज्ज---सावद्य--न.। अवद्यं पापं सहावद्येन वर्तते इति सावद्यम्। सपापे। (७. ७८७)

'सावद्य' शब्द 'स' और 'अवद्य' इन दो शब्दों से मिल कर बना है। 'अवद्य' का अर्थ 'पाप' है। जो पाप-सहित है, वह सावद्य है।

सियवाय---स्याद्वाद--पुं.। स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकं ततः स्याद्वादः। अनेकान्तवादे, नित्यानित्याद्यनेक धर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगमे। स्यादस्तीत्यादिकोवादः, स्याद्वाद इति गीयते। (७. ८५५)

'स्यात्' यह अव्यय है, जो अनेकान्त का द्योतक है। अनेकान्तवाद में नित्य-अनित्य आदि धर्म एक ही वस्तु में प्राप्त होते हैं। अनेक धर्मों का अस्तित्व जिसमें है, वह स्याद्वाद कहा जाता है।

सुत्त---सूत्र--न.। अर्थानां सूचनात् सूत्रम्। अनु.। विशे.। तत्तदर्थसूचनात् सूत्रम्। औणादिक शब्द-व्युत्पत्तिः। (७. ९४१)

अर्थों का सूचन करने से सूत्र कहा जाता है। जो उन-उन (विशेष) अर्थों का सूचन करने वाला हो, वह सूत्र है।

इन निरुक्तियों को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि ये कहीं-कहीं सटीक तथा संक्षिप्त होने पर भी यथार्थता को सूचित करने वाली हैं। इनसे समन्वित होने के कारण कोश की गरिमा निश्चित ही वृद्धिगत हुई है। □

गीत

क्यों करें हम रूप पर अभिमान
चार दिन का जबकि यह मेहमान–
तरु-शिखर-गिरिश्रृंग पर
मैदान-पनघट फैल
सौध-वन-उपवन सभी
घर-आँगनों से खेल
बात कर हर फूल से
चढ़ हर लहर पर
धूप गाती-गान–
उम्र चढ़ती है, धधकती
रूप-यौवन-ज्वाल
फूट पड़ते गीत-अधरों
पर, कि गति में ताल
और जब ढलती जरा की साँझ
धूप-सी डूबी कि तम में
रूप की मुसकान–
फैलती जाती कि मानव
रूप-रस की गन्ध
हेम-हिरनी-सी बना
देती मनुज को अन्ध
नयन में नवज्योति फैली
खींचती है वासना भी
और पुरुष-कमान–
अन्त में बनता वही
निरुपाय–रे निर्बल
जिन्दगी की साँझ में
वह सूर्य जाता ढल
रोक पाया कौन गति को
जब उदधि में काल के,
डूबे मनुज के प्राण–

–डॉ. छैलबिहारी गुप्त

	पार्श्वनाथ	महावीर
तीर्थंकर-क्रम	तेईस	चौवीस
तीर्थंकर-चिह्न	सर्प	सिंह
जन्म-स्थान	काशी (वाराणसी), उ. प्र.	वैशाली-कुण्डलपुर (विहार)
जन्म-तिथि	पौष कृष्ण ११ (८७७ ईस्वी पूर्व)	चैत्र शुक्ल १३ (२७ मार्च, ५२८ ई. पू.)
गोत्र	काश्यप	काश्यप
पिता	अश्वसेन	सिद्धार्थ
माता	वामा	त्रिशला
कौमार्य-जीवन	३० वर्ष	३० वर्ष
दीक्षा-तिथि	पौष कृ. ११ (८४७ ई. पू.)	मगसिर कृ. १० (२९ दि., ५६९ ई.पू.)
केवलज्ञान-तिथि	चैत्र कृ. ४	वैशाख शु. १०
केवलज्ञान-स्थल	वाराणसी	ऋजुकूला नदी
निर्वाण-तिथि	श्रावण शु. ७	कार्तिक कृ. १४
निर्वाण-स्थल	सम्मेदशिखर	पावापुरी
आयु-प्रमाण	१०० वर्ष	७२ वर्ष

पार्श्वनाथ : यात्रा, बर्बरता से मनुजता की ओर

आज से लगभग उन्तीस शताब्दी पहले भारत में एक ऐसी महान् विभूति ने जन्म लिया, जिसने बर्बरता को चुनौती दी और मनुष्य के जीवन में मैत्री, बन्धुत्व, करुणा और क्षमा को प्रतिष्ठित किया। ये थे जैनों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ, जिनका जीवन सत्यान्वेषण की एक प्रेरक कथा है, और जन्म-जन्मान्तरों में विकसित निर्वैर और क्षमा की अपूर्व शक्तियों का एक विलक्षण इतिहास है। पार्श्वनाथ का समकालीन भारत अन्धविश्वासों, बर्बर रूढ़ियों, हिंसा और क्रूरताओं में जी रहा था, वाराणसी-अंचल कापालिकों और तान्त्रिकों का केन्द्र था। कहीं भी जनता को धोखा देने वाले तथाकथित साधु पंचाग्नि तपते और शरीर को व्यर्थ क्लेश देते दिखायी पड़ते थे। आम आदमी के सामने चूँकि अन्य कोई मार्ग नहीं था अतः वह इसे ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानता था और चमत्कारों के आगे नतमस्तक था। पार्श्वनाथ ने इन सब विषमताओं को चुनौती दी और जीवन के उदात्त मूल्यों की स्थापना की। उन्होंने मानवीय दृष्टि से अपने समकालीन मनुज को समृद्ध किया। उनसे पूर्व के तीर्थंकरों में से नमिनाथ ने अहिंसा और नेमिनाथ ने करुणा की शक्तियों को प्रकट किया था और उनके बाद हुए तीर्थंकर भगवान महावीर ने अपरिग्रह को।

पार्श्वनाथ का समकालीन भारत अनाचार और हिंसा से संत्रस्त था। राजनीति, अर्थव्यवस्था, धार्मिक संस्थान, शिक्षा इत्यादि सभी क्षेत्रों में अराजकता और निरंकुशता थी। कोई किसी की सुनता नहीं था, कई मत-मतान्तर और सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे। विशुद्ध आध्यात्मिक साधना की ओर किसी का ध्यान

नहीं था, सब काय-क्लेश को महत्त्व देते थे। तन के तापस तो थे मन के तपस्वी नहीं थे। ऐसे विषम समय में पार्श्वनाथ ने चातुर्याम की बात कही। उन्होंने कहा : 'हिंसा मत करो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, परिग्रह से बचो।' अन्य शब्दों में उन्होंने अहिंसा अर्थात् करुणा, क्षमा, मैत्री, बन्धुत्व, सत्य, अस्तेय अर्थात् अचौर्य; तथा त्याग की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। इनसे एक नयी सामाजिकता ने जन्म लिया और मनुष्य मनुष्य के अधिक निकट आने लगा। उसका एक-दूसरे के प्रति विश्वास बढ़ा और विशुद्ध अध्यात्म की ओर ध्यान गया।

जब हम पार्श्वनाथ की समकालीन परिस्थितियों का जायजा लेते हैं तो ऐसा लगता है कि उस समय तक परिग्रह का सूक्ष्म विश्लेषण नहीं हो पाया था, उसे मोटे रूप में माना जा रहा था। इतनी सामाजिक और आर्थिक जटिलताएँ नहीं थीं कि उसका अलग से को विज्ञान खड़ा हो। धन-दौलत, यहाँ तक कि स्त्रियाँ और दास-दासियाँ, परिग्रह की परिधि में आ जाते थे। स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों को अलग से परिभाषित करने की समस्या सम्भवतः उस समय इतनी जटिल नहीं थी; किन्तु तान्त्रिकों की अराजकता और आध्यात्मिक निरंकुशता के कारण महावीर के युग तक आते-आते अ-ब्रह्मचर्य यानी बिगड़ते हुए स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों की ओर लोगों का ध्यान जाने लगा था। लोग सामाजिक और नैतिक शील को परिभाषित करने लगे थे। यही कारण था कि महावीर के जमाने में स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों की स्वतन्त्र समीक्षा हुई और पार्श्वनाथ के चातुर्याम से ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की दो अलग व्रत-शाखाएँ फूट निकलीं। अब नारी को परिग्रह की अपेक्षा एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व माना जाने लगा। महावीर की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने अपने युग की सामाजिकता को एक नया मोड़ दिया और दो बहुत बड़ी कुप्रथाओं का अन्त किया। एक, नारी दासी नहीं है। वह परिग्रह नहीं है जिसकी खरीद-फरोख्त हो; वह पुरुष की तरह ही स्वाधिकार-सम्पन्न है और उसे जीवन के सभी क्षेत्रों में समान अधिकार हैं; दूसरे, अपरिग्रह मात्र स्थूल त्याग नहीं है, वह मनुष्य के भावनात्मक और बौद्धिक स्तर से भी सम्बन्धित है; बाह्य त्याग की अपेक्षा भीतर से हुआ त्याग महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने ऐसी कृत्रिमता और कूटभाव को जीवन से निष्कासित किया जो मनुष्य को बर्बर बनाता था और एक-दूसरे से दूर करता था। पार्श्वनाथ ने भी वही सब कुछ किया; किन्तु पार्श्वनाथ और महावीर के बीच ढाई सौ वर्षों का फासला था और भारत की तस्वीर उन दिनों तेजी से बदल रही थी।

कुछ लोग कह सकते हैं कि नेमिनाथ ने राजमती को छोड़ा और पार्श्वनाथ तथा महावीर के जीवन में नारी के लिए जैसे स्थान ही नहीं है। तीनों ने नारी से पलायन किया और एक संघर्ष जिससे उन्हें जूझना चाहिये था, उससे वे बचे; किन्तु जब हम पार्श्वनाथ और महावीर के उपदेशों का समाजशास्त्रीय

अध्ययन करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन तीनों के हृदय में नारी के प्रति कोई जुगुप्सा नहीं थी, स्वयं के विकास की उत्कट आकांक्षा थी। वे पुरुष और नारी दोनों को स्वतन्त्र मानते थे। पार्श्वनाथ के युग में स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध उतने विकृत नहीं थे, जितने वाद को चलकर वे हुए। तान्त्रिकों ने नारी को मात्र भोग्या माना और वे उसे साधन मानते रहे, किन्तु पार्श्वनाथ और महावीर ने नारी को उतना ही महत्त्व दिया जितना पुरुष को। उन्होंने नारी की न तो निन्दा की और न ही प्रशंसा। उन्होंने मोक्ष-शास्त्र की रचना की, मुक्ति का एक विज्ञान विकसित किया, और उस विज्ञान के माध्यम से पुरुष और नारी दोनों को उन्नत होने के अवसर दिये। महावीर के समाज में, या पार्श्वनाथ के समाज में कहीं कोई भेदभाव या पूर्वग्रह नहीं है। पार्श्वनाथ का सम्प्रदाय तो इतना उन्मुक्त है कि उसने नर-नारी की समस्या को कोई महत्त्व ही नहीं दिया है। परिग्रह और अपरिग्रह का जो विश्लेषण पार्श्वनाथ के युग में हुआ, वह महत्त्व का था। परिग्रह मात्र मूर्च्छा है, वह जितनी पुरुष में हो सकती है, वैसी ही और उतनी ही तीव्रता से स्त्री में हो सकती है। पार्श्वनाथ को अपने युग में स्त्री को अलग से महत्त्व देने की इसलिए भी आवश्यकता नहीं हुई क्योंकि उनके युग तक त्याग और भोग दोनों सन्तुलित थे। संयम और अपरिग्रह अन्योन्याश्रित थे; अपरिग्रही के जीवन में संयम होता ही था। यही कारण था कि उन्होंने ब्रह्मचर्य को अलग से परिभाषित नहीं किया। समत्व में नर-नारी-सम्बन्धों की समरसता स्वयं स्पष्ट है, और चातुर्याम में समत्व स्वयंप्रसूत है।

पार्श्वनाथ के युग की एक देन यह भी है कि उस समय आध्यात्मिक साधना में जो धुंधलापन आ गया था वह हटा और एक स्पष्टता सामने आयी। अब तक लोग यह मान रहे थे कि शरीर को क्लेश देना, काय-क्लेश ही साधना का एकमात्र स्वरूप है; पार्श्वनाथ ने अपने युग के आदमी को स्थूलता से खींचकर सूक्ष्मताओं में प्रवेश दिया। उन्होंने आदिनाथ के समय से चले आ रहे जैनदर्शन को अपनी युगानुरूप भाषा में लोगों के सामने रखा। उन्होंने कहा—'शरीर को कष्ट देने से जीवन का लक्ष्य प्राप्त नहीं होगा। वह सूक्ष्म है। उसके लिए स्वस्थ और सम्यक् दृष्टि चाहिये। सांसारिक प्रलोभनों से प्रेरित मन आध्यात्मिक दृष्टि से कुछ भी उपलब्ध करने में असमर्थ है। यह सारा संसार जीव और अजीव दो अस्तित्वों में विभक्त है। जीव का अपना व्यक्तित्व है, अजीव का अपना। दोनों अपनी-अपनी मौलिकताओं में संचरण करते हैं। ऐसा सम्भव नहीं है कि जीव के व्यक्तित्व का अन्तरण अजीव में हो सके और अजीव का जीव में। जीव जीव है और अजीव अजीव है। शरीर शरीर है और आत्मा आत्मा। न कभी आत्मा शरीर बन सकता है और न शरीर आत्मा। इन दोनों की स्वतंत्र सत्ताओं को समझना ही सम्यक्त्व है। पहले आस्था विकसित करो, फिर अनुसन्धान करो और तदनन्तर उसे अपने जीवन में प्रकट करो।' उनके इस कथन और समीक्षण

ने आध्यात्मिक साधना को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया और लोगों को जीवन के कृत्रिम आचार से तुलना करने का अवकाश दिया। शरीर कष्ट नहीं, अन्तर्दृष्टि महत्त्वपूर्ण है, जिसके पास अन्तर्दृष्टि है, वह कमल की पांखुरी पर पड़ी ओस की बूंद की तरह संसार में निर्लिप्त रह सकता है। पार्श्वनाथ का आध्यात्मिक सन्देश स्त्री-पुरुष सबके लिए एक समान है।

पार्श्वनाथ के इस जीवन-दर्शन को, जो जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्तों का ही एक आकार है, उत्तम प्रतिपादन हम तब देखते हैं जब उनका कमठ से साक्षात्कार होता है। कमठ पंचाग्नि तप रहा है, हिंसा कर रहा है, अपने युग की जनता से झूठे आध्यात्मिक वायदे कर रहा है, किन्तु जीवन की निश्छलता और सरलता से वंचित है; पार्श्वनाथ कह रहे हैं; जिस काठ-खण्ड को तू जला रहा है उसमें नाग-नागिन झुलस रहे हैं। तू इतने असंख्य प्राणियों का घात क्यों कर रहा है ? अपनी ओर देख, भीतर यात्रा कर, वहाँ सब कुछ है। बाह्य तपश्चर्या से कुछ नहीं होगा, आभ्यन्तर तप की आवश्यकता है।' इस तरह पार्श्वनाथ ने अपने युग-जीवन को एक नया मोड़ दिया। कृत्रिमताओं को जीवन से निष्कासित किया, क्षमा और मैत्री से मानव-जीवन को अलंकृत किया। —सं.

□□

'हमें इन दो बातों का भी स्मरण रखना चाहिये कि जैनधर्म निश्चित रूप से महावीर से प्राचीन है। उनके प्रख्यात पूर्वगामी पार्श्व प्रायः निश्चित रूप से एक वास्तविक व्यक्ति के रूप में विद्यमान रह चुके हैं, परिणाम-स्वरूप मूल सिद्धान्तों की मुख्य बातें महावीर से बहुत पहले सूत्र रूप धारण कर चुकी होंगी।

—डा. चार्ल शार्पेण्टियर

कन्फूशस

महावीर के विदेशी समकालीन

☐ डॉ. भगवतशरण उपाध्याय

ईसा पूर्व छठी सदी, जिसमें तीर्थंकर महावीर का जन्म हुआ था (५९९-२७), संसार के इतिहास में असाधारण उथल-पुथल की सदी थी। सारे संसार में तब चिन्तन के क्षेत्र में विद्रोह हो रहा था और नये विचार प्रतिष्ठित किये जा रहे थे। नये दर्शन रचे-परिभाषित किये जा रहे थे। भारत, चीन, ईरान, इसराइल सर्वत्र नये विचारों की धूम थी।

भारत में यह युग उपनिषदों का था, जिन्होंने वेदों के बहुदेववाद से विद्रोह कर "ब्रह्म" की प्रतिष्ठा की, चिन्तन को हिंसात्मक यज्ञों से ऊपर रखा, ब्राह्मणों के प्रभुत्व को तिरस्कृत कर क्षत्रियों की सत्ता दर्शन के क्षेत्र में स्थापित की। उस काल सत्य की खोज में विचारों के संघर्ष करते अनेक साधु, आचार्य और परिव्राजक अपने-अपने शिष्यसंघ लिये देश में फिरा करते और तर्क तथा प्रज्ञा से सत्य को परखते। ये प्रायः सभी विचारक दार्शनिक—कम-से-कम महावीर और बुद्ध के समकालीन--अनीश्वरवादी और अनात्मवादी थे। इनमें अग्रणी महावीर और बुद्ध थे जो क्षत्रिय और अभिजात थे और अश्वपति कैकेय, प्रवहण जैवालि, अजातशत्रु कोशेय और जनक विदेह की राज-परम्परा में विचारों के प्रवर्तक हुए। इन्होंने उपनिषदों के 'ब्रह्म' को छोड़ दिया, आत्मा को और वैचारिक विद्रोह को आगे बढ़ाया।

महावीर के विदेशी समसामयिकों में, स्वदेश के चिन्तकों में, बुद्ध थे, जिनके विचारों का देश-विदेश सर्वत्र विस्तृत प्रचार हुआ। इनके अतिरिक्त जिन पाँच अन्य दार्शनिकों के नाम तत्कालीन साहित्य ने बचा रखे हैं; वे थे, पुराणकस्सप, अजित केशकम्बलिन्, पकुध कच्चायन, संजय बेलट्ठिपुत्त और मक्खलि गोसाल। पुराणकस्सप

पाप-पुण्य में भेद नहीं मानते थे, न उनकी सम्भावना ही स्वीकार करते थे। अजित जो केशों का कम्बल धारण करते थे; कर्मों के फल, आत्मा पुनर्जन्म आदि स्वीकार करते थे। पकुध, भौतिक जगत्, सुख-दुःख आदि का रचयिता किसी को नहीं मानते थे और न ही हत्या,परपीड़न आदि में कोई दोष मानते थे। संजय संदेहवादी दर्शन के प्रवक्ता थे और मक्खलि आजीवक सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे, जो अन्त में महावीर के शिष्य हो गये थे। इनके अतिरिक्त दो और दार्शनिक उस काल में अपने संघ लिये लोगों को उपदेश दिया करते थे—आलार कालाम और उद्दक (रुद्रक) रामपुत्त, दोनों बुद्ध के गुरु रह चुके थे, जिनके आश्रमों में कुछ काल रहकर बुद्धत्व प्राप्त करने से पहले गौतम ने ज्ञानार्जन किया था। पर वहाँ अपने प्रश्नों के सही उत्तर न पा उनसे विरक्त होकर वे राजगिरि की ओर जा पहाड़ियाँ लाँघकर गया पहुँचे थे और वहाँ उन्होंने सम्यक् सम्बोधि प्राप्त की थी।

चीन में उसके इतिहास का क्लासिकल काल–चुन्-चिउ का सामन्ती युग प्रायः ७२२ ई. पू. ही जन्म ले चुका था और राजनीति अब संस्कृति की ओर नेतृत्व के लिए देख रही थी। नेतृत्व दर्शन और धर्म ने दिया भी उसे, महावीर के प्रायः जीवन-काल में ही, छठी सदी ई. पू. में, चीन के विशाल देश में तीन महा-पुरुष जन्मे—कन्फूशस (ल. ५५१-४७९ ई. पू.), लाओ-त्जू (ल. ५९० ई. पू.) और मोत्जू (ल. ५००-४२० ई.पू.)। लाओ-त्जू तो सम्भवतः ऐतिहासिक व्यक्ति न था, पर उसका ऐश्वर्य पर्याप्त फला-फूला। शेष दोनों धार्मिक-दार्शनिक नेता अभिजात कुलों के थे, महावीर और बुद्ध की ही भाँति। कन्फूशस लू राज्य का रहने वाला था और शुंग राजकुल की एक शाखा में जन्मा था। उसके पूर्वज वस्तुतः शांग सम्राटों के वंशज थे, जो कालान्तर में लू राज्य में जा बसे थे। कन्फूशस का दर्शन तत्त्वतः राजनीतिक था। उसका चिन्तन यद्यपि प्रतिक्रियावादी था; क्योंकि वह अपने समाज को "डिकेडेन्ट"–निम्नगामी–मानता था और अतीत के स्वर्णयुग की ओर लौट जाना चाहता था और उसी दिशा में उसने प्रयत्न भी किये। पर प्रतिक्रियावादी होते हुए भी उसका वैचारिक आन्दोलन चल निकला और उसने जनता पर अपने सम्मोहन का जादू डाला, ठीक उसी तरह जिस तरह प्रतिक्रियावादी होता हुआ भी अवनींद्रनाथ टैगोर का अजन्तावादी आन्दोलन भारत में चल गया था और उसका जादू बंगाल पर दीर्घकाल तक छाया रहा था। कन्फूशस ने प्राचीन ग्रन्थों को अपने चिन्तन-दर्शन के अनुरूप ढालकर उनकी व्याख्या की और आदिम अकृत्रिम जीवन की ओर उसने अपने अनुयायियों को लौट चलने को कहा। आचार उसका परम आराध्य बना। भारत के दार्शनिक महावीर के साथ साथ सभी भारतीय चिन्तक, रूढ़िविरोधी थे, अपनी तर्कसत्ता की लीक पर चलते थे। अनुकरण मौलिक चिन्तन का शत्रु है, यह वे जानते थे और अपनी ही खोजी राह उन्होंने अपनायी।

मो-त्जू कन्फूशस का एकान्त प्रतिगामी था, रूढ़ियों का अप्रतिम शत्रु। वह संग-

जो-त्जू

ठित समाज को ही अस्वीकार करता था। उसे अनित्य और दुःखकर मानता था। महावीर के भारतीय समकालीनों के मो-त्जू अत्यन्त निकट था। वह भी अभिजात था, उसका दर्शन भी आभिजात्य सूचक ऐकान्तिक था। उसका दार्शनिक आन्दोलन मोहिस्त नाम से फैला।

ताओवाद का प्रवर्त्तक लाओ-त्जू भी प्रायः तभी हुआ था, यद्यपि उसकी ऐतिहासिकता में कुछ लोगों ने अविश्वास किया है। लाओ-त्जू चाहे ऐतिहासिक व्यक्ति न रहा हो, पर उसके दर्शन की वेल उसी काल लगी जव केवली महावीर अहिंसा और सत्य का भारत में प्रचार कर रहे थे। ताओवाद पर्याप्त फैला, जो वस्तुतः आज तक मर नहीं पाया। वौद्ध धर्म के चीन में प्रचार के वाद उसका दर्शन नये धर्म का सवल प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध हुआ। अपने सावधि समाज को उसने भी निम्नगामी–'डिकेडेन्ड'–माना और अकृत्रिम सहज जीवन को उसने अपनाया। उसने प्रव्रज्या को सराहा और कभी राजसत्ता का अनुगामी वह नहीं वना।

महत्त्व की वात है कि कन्फूशस को छोड़ शेष प्रायः सारे चीनी दार्शनिक चिन्तक भारतीय चिन्तकों की ही भांति अस्तेय, अपरिग्रह, अहिंसा का जीवन जी रहे थे और उसका प्रचार कर रहे थे। यही कारण था कि वौद्ध भिक्षुओं का जव चीन में प्रवेश हुआ, तव वहां के श्रद्धालुओं को वह नया वौद्ध धर्म सर्वथा विदेशी नहीं लगा। वस्तुतः इन आन्दोलनों ने उस धर्म के लिए भूमि तैयार कर दी। कुछ ही काल वाद चीन में एक विकट घटना घटी। उत्तर-पश्चिम में सूखा पड़ा, कान्सू के हूण विचल हुये, चारागाहों की खोज में पश्चिम की ओर चले और उनकी टक्करों से यूह्ची उखड़ गये। यूह्चियों ने शकों को और पश्चिम में धकेला, शकों ने वक्षु (आमूदरिया) की घाटी से ग्रीकों को भगा दिया। यूह्ची की पीठ पर ही हूण भी थे, जो आमूदरिया में जा वसे। तभी भारत का अशोक बौद्ध धर्म के साधु देशान्तरों में भेज रहा था, जिसके पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य ने महावीर के धर्म को अपनाया था और जिसके पौत्र दशरथ और सम्प्रति क्रमशः आजीवक और जैन धर्मों का पालन-प्रचार कर रहे थे। चीन ने देखा, तत्कालीन-

तुर्फान-तुनहुआंग की राह भारतीय त्रि-चीवरधारी भिक्षु उन भारतीय बस्तियों की ओर जानलेवा राह से चले आ रहे थे, जो रेशमी व्यापार के महापथ पर बस गयी थीं और जो उस बौद्ध ऐश्वर्य को भोग-जी रही थीं, जिसका अनेकांश महावीर के चिन्तन से प्रभावित था।

पश्चिमी एशिया साम्राज्यों की सत्ता से संत्रस्त था। सुमेरियों के ध्वंसावशेष पर बाबुली उठे थे, बाबुलियों के भग्न-स्तूपों पर असुरों ने अपने अपूर्व भवनों के स्तंभ खड़े किये थे और तलवार से अपनी कीर्ति लिखी थी। उनका साम्राज्य अब नष्ट हो रहा था और आर्य मीदियों की उठती हुई सत्ता के अब वे शिकार हो रहे थे। उन्होंने असुरों की राजधानी निनेवे को जला डाला था और महावीर के समकालीन ईरानी सम्राट् कुरुष ने मिस्र से आरमीनिया तक और सीरिया से सिन्धु तक की भूमि जीत ली थी, जिसकी साम्राज्य-सीमा अरब में दारा ने सिन्धु नद लांघ रावी तक बढ़ा ली थी। जब महावीर बासठ वर्ष के हुए तभी ५३७ ई. पू. में उधर एक महान् घटना घटी—कुरुष ने बाबुल की सत्ता नष्ट करदी। यह संसारव्यापी प्रभाव उत्पन्न करने वाली घटना थी। कारण कि इसने उन यहूदी नबियों को बन्धन-मुक्त कर दिया, जिन्हें खल्दी सम्राट् ने इस्राइल से लाकर कैद में डाल दिया था। बाइबिल की "पुरानी पोथी" की वह घटना भी तभी घटी थी, जिसका उल्लेख हर भाषा का मुहाविरा करता है—सर्वनाश के लिए "दीवार का लेख।" बाबूल का राजा बेल्शज्जार तब जश्न में मस्त था। दावत चल रही थी। नंगी नारियाँ भोजन परस रहीं थीं। किंवदन्ती है एक हाथ निकला और महल की दीवार पर उसने लिख दिया—तुम तोले जा चुके हो, तुम्हारे दिन समाप्त हो चुके हैं, तुम्हारा अन्त निकट है। मेने, मेने तेकेल, उफार्सीन। और कुरुष ने तत्काल हमला कर बाबुल को जीत लिया।
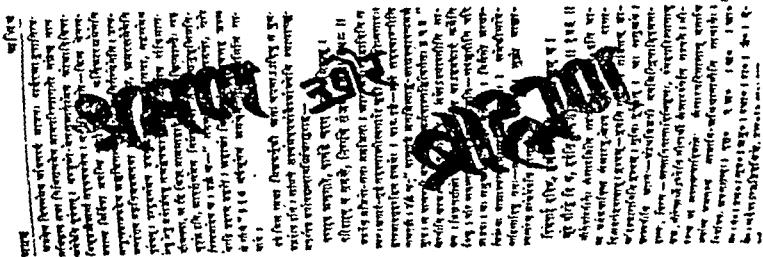
बाबुल जीत तो लिया गया, पर बाबुल के पुराने जयी असुरों का देवता "असुर" ईरानियों के सिर जादू बनकर जा चढ़ा। उसका उल्लेख महान् देवता के रूप में "आहूर मज्दा" के नाम से जेन्दावेस्ता में हुआ और उसी देवता के प्रधान पूजक महावीर के प्रायः समकालीन पारसियों के नबी जरथुश्थ्र हुए। अग्नि की पूजा के समर्थक आचार को धर्म में प्रधान स्थान देने वाले इस धार्मिक नेता ने ईरान की सीमाओं को अपने उपदेशों से गुँजा दिया। जरथुश्थ्र का धर्म राजधर्म हो गया। दारा आदि सभी राजाओं ने उसे स्वीकार किया। पर स्वयं उस धर्म के प्रचारक को धर्मार्थ बलि हो जाना पड़ा। अग्निशिखा के सामने मन्दिर में वह पूजा कर रहा था, जब असहिष्णु आततायियों ने उसमें प्रवेश कर महात्मा का वध कर दिया। भारत इस प्रकार की हत्याओं से धर्म और दर्शन के क्षेत्र में सर्वथा मुक्त था।

ग्रीस युद्धों में व्यस्त था, वहाँ के पेरिक्लियन युग का अभी आरम्भ नहीं हुआ था। उसके सुकरात और दियोजिनीज, अफलातून और अरस्तू अभी भविष्य के गर्भ में थे। पर हाँ, पश्चिमी एशिया के भूमध्यसागरीय पूर्वी अंचल में एक ऐसी

(शेष पृष्ठ १९९ पर)

साँच ही कहत और साँच ही गहत है
कांच कूँ त्यागकर साँच लागा ।

—कबीर

□ दलसुखभाई मालवणिया

जैनधर्म के दो रूप हैं—एक आन्तरिक, नैश्चयिक याने वास्तविक और दूसरा है व्यावहारिक, वाह्य अर्थात् अ-वास्तविक। जैनधर्म के विषय में यदि विचार करना हो तो हमें इन दोनों रूपों का विचार करना होगा; फिर भारतीय धर्मों की यह विशेषता है कि उनका अपना-अपना दर्शन भी है। धर्म यद्यपि आचरण की वस्तु ही है, तथापि इस आचरण के मूल में कितनी ही निष्ठाएँ हैं। उन्हें ही हम यहाँ 'दर्शन' कहेंगे, याने जैनधर्म की चर्चा के साथ-साथ उसके दर्शन की चर्चा भी होना स्वाभाविक है और वह यहाँ होगी भी।

'जिनों' याने 'विजेताओं' का धर्म 'जैनधर्म' है। प्राचीन काल में इन्द्र-जैसे देवों की उपासना उन्हें विजेता मानकर ही की जाती थी, परन्तु इन 'जिन' विजेताओं और उन विजेता इन्द्रों में वहुत अन्तर है। इन्द्र ने अपने तत्कालीन सभी विरोधियों का नाश कर महान् विजेता-पद को ही प्राप्त नहीं किया अपितु वह आर्यो का सेनानी एवं उपास्य भी वन गया था। यह उसकी बाह्य, भौतिक विजय थी, जिस के प्रताप से उसने जो प्राप्त किया, वह भौतिक सम्पत्ति ही था। इसी में वह मस्त था और उसी से उसका गौरव था। पर यह कोई अनोखी वात नहीं थी। इसी प्रकार अनादि काल से मनुष्य शक्तिपूजक ही तो रहा था, परन्तु जव एक समूह या प्रजा पर किसी अन्य समूह या प्रजा ने विजय पा ली तो इस महान् विजय के विजेता इन्द्र ने एक विशिष्ट प्रकार का महत्त्व अपने समूह में प्राप्त कर लिया, और भारतवर्ष में इस विजय से जिस संस्कृति का विकास हुआ, वह 'यज्ञ-संस्कृति' के नाम से प्रतिष्ठित हुई। इस संस्कृति के विकास में मूलत: तो क्षात्र तेज याने शारीरिक वल ही था, परन्तु जव वुद्धिवल ने इस क्षात्र तेज या शारीरिक वल पर विजय प्राप्त कर ली तो वह 'क्षत्रिय-संस्कृति' नहीं अपितु 'ब्राह्मण-संस्कृति' के नाम से प्रख्यात हो गयी। ये आर्य इस प्रकार से विजय प्राप्त करते आगे से आगे भारत में चढ़ते हुए जव उक्त ब्राह्मण-संस्कृति का प्रसार कर रहे थे, तव

यहाँ नगर-संस्कृति का अच्छी तरह से प्रचार-प्रसार हुआ-हुआ ही था; परन्तु जो उत्साह एवं शारीरिक पराक्रम इन घुमक्कड़ आर्यों ने दिखाया, वैसा अर्से से स्थिर हो गये भारतीयों ने नहीं दिखाया हालांकि उनमें बुद्धिबल अधिक था। यह सहज समझ में आने जैसी बात है।

परिणाम यह हुआ कि आर्यों के इस शारीरिक बल के सामने पहले से स्थिर नागरिकों का बुद्धिबल टिक नहीं पाया और बहुत पुरों-नगरों का नाश कर इन्द्र विजयी हो गया और उसने इस प्रकार पुरन्दर याने पुर-नगर-भंजक का विरुद भी अपने लिए प्राप्त कर लिया। इस प्रकार भारतवर्ष की प्राचीन नगर-संस्कृति प्रायः नष्ट हो गयी। अनेक मुनि-यतियों का भी तब नाश कर दिया गया, ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं। मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा के उत्खननों में अनेक मूर्तियाँ ऐसी प्राप्त हुई हैं, जो ध्यानमुद्रा-स्थिति की हैं। इनसे यह एक अनुमान लगाया जा सकता है कि उस भारतीय नगर-संस्कृति के नेता योग का अभ्यास करते होंगे। आर्यों के इन्द्र ने जिन मुनियों अथवा यतियों को मौत के घाट उतारा, वे यही होंगे ऐसा भी उन मूर्ति-अवशेषों से दूसरा अनुमान निकाला जा सकता है। किसी भी लिखित प्रमाण के अभाव में उन मुनियों-यतियों के धर्म का नाम क्या होगा, यह कहना कठिन है; फिर भी बुद्ध और महावीर के समय की दो पृथक्-पृथक् विचारधाराओं——श्रमण और ब्राह्मण का जैन और बौद्ध धर्म-ग्रन्थों में हमें स्पष्ट निर्देश मिलता है। यज्ञविधि-विधानों से भरपूर यज्ञ-संस्कृति के उपलब्ध ग्रन्थ, जो 'ब्राह्मण' नाम से पहचाने जाते हैं, स्पष्ट कह रहे हैं कि इस संस्कृति का सम्बन्ध 'ब्राह्मण-विचारधारा' नाम से तब पहचानी जाती धारा से ही था। इससे यह भी कहा जा सकता है कि तत्कालीन दूसरी विचारधारा का सम्बन्ध 'श्रमण-विचारधारा' से ही होना चाहिये। इससे यह कल्पना भी सहज ही होती है कि बुद्ध और महावीर से पूर्व के भारतवर्ष में धर्म के दो भेद अर्थात् श्रमण और ब्राह्मण थे।

भूत याने बाह्यजगत्-विजेता की संस्कृति ब्राह्मण-संस्कृति थी; अतः उसकी विरोधी याने आत्म-विजेता की संस्कृति 'श्रमण-संस्कृति' होनी चाहिये, यह सहज ही फलित हो जाता है। भूत-विजेता जैसे इन्द्रादि देव प्रसिद्ध हैं, और उन्हें ब्राह्मण-परम्परा में उपास्यपद प्राप्त हैं, वैसे ही इस 'श्रमण-संस्कृति' के जो आत्म-विजेता हुए, वे 'जिन' नाम से प्रख्यात थे। मोहन-जो-दड़ो आदि से प्राप्त ध्यान-मुद्रा-स्थित शिल्प इसलिए इनके आत्म-विजय के प्रयत्नों के सूचक होने चाहिये, ऐसा सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

इन्द्र में क्षात्र तेज था, परन्तु ब्रह्मतेज के सामने वह परास्त हो गया, इस लिए क्षात्रतेज मूलाधार होते हुए भी वह क्षात्र संस्कृति 'ब्राह्मण-संस्कृति' के नाम से ही प्रसिद्ध हुई, जबकि इस क्षात्र तेज का ही रूपान्तर आभ्यन्तर आत्मतेज में हुआ। शारीरिक तेज अथवा बल यथार्थ बल नहीं, अपितु आभ्यन्तर तेज—आत्मिक बल ही

यथार्थ वल है ऐसा मान्य हो गया तव उस क्षात्र तेज को नया अर्थ प्राप्त हो गया और इस तरह 'श्रमण-संस्कृति' का विकास भी क्षत्रियों ने ही किया। जहाँ तक इतिहास की दृष्टि पहुँचती है, वहाँ तक विचार करने पर जाना जाता है कि क्षत्रियों ने ही——नये अर्थ में क्षत्रियों ने ही——श्रमण-संस्कृति को विकसित किया है।

उपनिषदों में हम देखते हैं कि ब्रह्मविद्या ही, जो कि पहले यज्ञविद्या थी, उपनिषद्-काल में आत्म-विद्या के रूप में प्रसिद्ध हुई और उसके पुरस्कर्ता ब्राह्मण-वर्ग के नहीं अपितु क्षत्रियवर्ग के लोग थे। यज्ञ-विद्या में कुशल ऋषि भी आत्म-विद्या प्राप्त करने को क्षत्रियों के पास पहुँचते थे। इससे प्रतीत होता है कि श्रमण-परम्परा की ब्राह्मणों पर विजय शारीरिक वल से नहीं वरन् आत्मवल से हुई और वह भी यहाँ तक कि उपनिषद् और उनके वाद के काल में तो यज्ञ के स्थान में आत्मा ही ब्राह्मण-संस्कृति में प्रधान हो गया। यह काल श्रमण-ब्राह्मण-संस्कृति के समन्वय का था, आर्य-आर्येतर संस्कृति के समन्वय का था। यही भगवान् महावीर और भगवान् वुद्ध का समय भी है।

श्रमण और ब्राह्मण के समन्वय के फलस्वरूप श्रमणों ने ब्राह्मणों से और ब्राह्मणों ने श्रमणों से नयी-नयी वातें सीखीं और अपनायीं। ब्रह्म का अर्थ जो पहले यज्ञ एवं उनके मन्त्र अथवा स्तोत्र होता था, उसके स्थान में उसका अर्थ अव आत्मा किया जाने लगा। श्रमण भी अव अपने श्रेष्ठ पुरुषों को आर्य और अपने धर्म को आर्यधर्म कहने लगी। यज्ञ का स्वीकार श्रमणों ने भी कर लिया और उसका वे आध्यात्मिक अर्थ करने लगे। यही क्यों, वे अपने संघ के श्रमणों को ब्राह्मण नाम से सम्वोधित करने में भी गौरव का अनुभव करने लगे। अपने आत्म-धर्म का नाम भी उन्होंने ब्रह्मचर्य——ब्रह्मविहार रख लिया। ब्राह्मणों में ब्रह्मचर्य का अर्थ वेद-पठन की चर्या था। उसके स्थान में श्रमणों ने इसी ब्रह्मचर्य का अपनी आध्यात्मिक साधना के आचार रूप में परिचय दिया। ब्राह्मणों में जहाँ संन्यास और मोक्ष का नाम तक नहीं था, श्रमणों से लेकर उन्होंने दोनों को ही आत्मसात् कर लिया। भौतिक वल में श्रेष्ठ और मनुष्यों के पूज्य इन्द्रादि देवों को श्रमणों ने जिनों के——मनुष्यों के पूजक, सेवक का स्थान दिया और ब्राह्मणों ने इन्हीं इन्द्रादिक देवों की पूजा के स्थान में आत्मपूजा प्रारम्भ कर दी और शारीरिक सम्पत्ति ने आत्मिक सम्पत्ति को अधिक महत्त्व दे दिया, अथवा यह कहिये कि ब्राह्मणों ने इन्द्र को आत्मा में वदल दिया। संक्षेप में, ब्राह्मण धर्म का रूपान्तर ब्रह्मधर्म (आत्म-धर्म) में हो गया। ऐसे ही समन्वय के कारण श्रमण और ब्राह्मण दोनों ही संस्कृतियाँ समृद्ध हुईं और उनकी भेदक रेखा वेद-शास्त्र में सीमित हो गयी; याने अपनी मान्यता के मूल में जो वेद को प्रमाणभूत मानते रहे, वे ब्राह्मण परम्परा में गिने जाने लगे और जो वेद-शास्त्र को नहीं अपितु समय-समय पर होने वाले जिनों को मानते, वे श्रमण माने जाने लगे।

ब्राह्मण-परम्परा में जैसे अनेक मत-मतान्तर हैं, वैसे ही श्रमण-परम्परा में भी अनेक मत-मतान्तर हैं। एक ही वेद के अर्थ में मतभेद होने से ब्राह्मण-सम्प्रदाय में जैसे अनेक सम्प्रदाय हुए, वैसे ही अनेक जिनों (तीर्थंकरों) के उपदेश में पार्थक्य होने के कारण श्रमणों में अनेक सम्प्रदाय हो गये, जैसे कि आजीवक, निर्ग्रन्थ, बौद्ध आदि। ये सभी सम्प्रदाय जिनोपासक होने से 'जैन' कहे जाते हैं। बौद्ध सम्प्रदाय को छठी शताब्दी तक जैन नाम से भी पहचाना जाता था, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। आजीवक भी दिगम्बर जैन या क्षपणक नाम से इतिहास में परिचित हुए, यह भी तथ्य है; परन्तु आज रूढ़ि यह है कि भगवान् महावीर के अनुयायी ही जैन नाम से पहचाने जाते हैं। श्रमणों का दूसरा सम्प्रदाय जो भगवान् बुद्ध का अनुयायी है, आजकल बौद्ध नाम से पहचाना जाता है। आजीवक और तत्कालीन इतर श्रमण सम्प्रदायों का तो नामोनिशान तक नहीं रहा है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि "जैन" शब्द का एक व्यापक अर्थ होते हुए भी उसका अर्थ आज तो बहुत ही संकुचित हो गया है। विशाल अर्थ में जो भी 'जिन' का उपासक हो, वह जैन है; परन्तु संकुचित अर्थ में आज भगवान् महावीर की परम्परा का अनुसरण करने वाला ही "जैन" कहलाता है। भगवान् महावीर जैसे जिन, सुगत, श्रमण, तथागत, अर्हत्, तीर्थंकर, बुद्ध आदि नामों से पहचाने जाते हैं, वैसे ही भगवान् गौतम बुद्ध भी जिन, सुगत, श्रमण, तथागत, अर्हत्, तीर्थंकर, बुद्ध आदि नामों से पहचाने जाते हैं। यह इतना सूचन करने के लिए पर्याप्त है कि ये दोनों महापुरुष एक ही श्रमण-परम्परा के होने चाहिये। हैं भी। परन्तु एक परम्परा में अर्हत् अथवा जिन नामों पर अधिक भार दिया गया, अतः वह परम्परा आज आर्हत् परम्परा अथवा जैन परम्परा के नाम से प्रसिद्ध हो गयी है जबकि दूसरी परम्परा ने बुद्ध अथवा तथागत नाम पर अधिक भार दिया और इसलिए वह परम्परा बौद्ध परम्परा के नाम से पहचानी जाने लगी है।

ऊपर श्रमण और ब्राह्मण के पार्थक्य और समन्वय की चर्चा की जा चुकी है। इस विषय में यह स्पष्ट कहना आवश्यक है कि श्रमणों की आत्म-विद्या का यद्यपि ब्राह्मणों ने स्वीकार कर लिया, फिर भी श्रमण और ब्राह्मण के बीच जो एक भारी अन्तर, उपनिषद्-युग में ही नहीं अपितु उसके बाद भी, देखा जाता है, उस पर यहाँ थोड़ा विचार करना आवश्यक है। ब्राह्मणों की रुचि आत्मविद्या की ओर बढ़ी एवं ब्रह्मज्ञ ऋषियों का ब्राह्मणों में बहुमान भी होने लगा; परन्तु इन ब्रह्मज्ञ माने जाने वाले ऋषियों की चर्या और उसी काल के लगभग होने वाले तीर्थंकरों अथवा इससे कुछ ही उत्तरकाल में होने वाले भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध की चर्या की ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो दोनों में हमें वह भारी अन्तर स्पष्ट ही दीख पड़ता है। यह अन्तर है ज्ञान एवं क्रिया अर्थात् चारित्र्य का। ब्रह्मर्षि ब्रह्मज्ञान-तत्त्वज्ञान में निपुण-पटु हैं; परन्तु उनका चारित्र्य-पक्ष निर्बल है। याज्ञवल्क्य जैसे महान् तत्त्वज्ञ ब्रह्मर्षि के जीवन की घटनाओं को

ही देखिये और बुद्ध एवं महावीर की अथवा इनके पूर्व के श्रमणों की चर्या को देखिये तो आपको श्रमणों में वीतराग भाव का प्राधान्य मिलेगा, किन्तु ब्रह्मर्षि में नहीं। ब्रह्मज्ञ रूप में सुप्रसिद्ध होते हुए भी याज्ञवल्क्य को, भरी सभा से उठ कर गौओं को हंकाल ले जाते समय, अपने सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी होने का अभिमान करते हम पाते हैं, यही नहीं अपितु इतनी गौओं का परिग्रह स्वीकार करते हुए उनका ब्रह्मज्ञान उन्हें जरा भी कुण्ठित नहीं करता है। पक्षान्तर में श्रमण-धर्म का सहज भाव से परिचय होते ही बुद्ध और महावीर दोनों ही घर-गृहस्थी और समस्त परिग्रह-त्याग अनगार-भिक्षुक बन जाते हैं। ब्रह्मचर्य होते हुए भी ऋषि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं और अपनी सम्पत्ति के विभाजन का प्रश्न भी उनके सामने था। इस प्रकार के परिग्रहधारी को श्रमणों में कभी भी आत्मज्ञानी-ब्रह्मज्ञानी की उपाधि मिल नहीं सकती है। यही भारी अन्तर श्रमण और ब्राह्मण में था, जो आज भी है।

संन्यास को एक आश्रम रूप में स्वीकार कर लेने पर भी ब्राह्मण-परम्परा में महत्त्व तो गृहस्थाश्रम का ही सर्वाधिक रहा। पक्षान्तर में श्रमणों की संस्था सदा एकाश्रमी ही रही। उसमें संन्यास को महत्त्व दिया दूसरे किसी भी आश्रम को नहीं। संन्यास की पूर्व तैयारी के लिए भी गृहस्थाश्रम अनिवार्य नहीं माना गया है। यही नहीं, वह तो सदा ही त्याज्य है। इसी अन्तर के कारण में से श्राद्धादि की कल्पना और सन्तानोत्पत्ति की अनिवार्यता ब्राह्म धर्म में मान्य हुई जबकि श्रमणों में ऐसी किसी भी कल्पना को कोई स्थान ही नहीं मिला है।

ब्राह्मण-धर्म में यज्ञ-संस्था के प्राधान्य के साथ-साथ ही पुरोहित-संस्था का भी प्रादुर्भाव हुआ और उसी के फलस्वरूप ब्राह्मण-वर्ण श्रेष्ठ और अन्य वर्ण हीन, यह भावना भी प्रचलित हुई। अतः समाज में जातिगत उच्चता-नीचता मान्य हुई और इसने धर्म-क्षेत्र में भी अपने पैर जमा दिये। फलतः मनुष्य-समाज के टुकड़े-टुकड़े हो गये। पक्षान्तर में श्रमणों में पुरोहित नाम की किसी संस्था के प्रादुर्भाव का अवकाश ही नहीं था। यह अन्तर होते हुए भी दोनों के मिलन के परिणाम-स्वरूप जिस जातिगत उच्चता-नीचता का श्रमण-सिद्धान्त से कोई मेल ही नहीं है, उसे श्रमणों का प्रमुख सम्प्रदाय जैनों ने बहुतांश में स्वीकार कर लिया हालांकि प्राचीन काल में ऐसा कोई भेद श्रमण याने जैन संघ को मान्य नहीं था। यही कारण है कि आज श्रमण-जैन संघ भी जातिवाद के भूत से पूर्ण अभिभूत है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि जातिवादी ब्राह्मण-सम्प्रदाय में मध्यकाल में ऐसे अनेक सम्प्रदाय और सन्त हुए कि जिन्होंने जातिगत उच्चता-नीचता को जरा भी महत्त्व नहीं दिया। यह ब्राह्मण-सम्प्रदाय पर जहाँ श्रमण-भावना की विजय मानी जा सकती है, वहाँ आज के जैनों का जातिवाद श्रमणों की स्पष्ट पराजय है।

निवृत्ति और प्रवृत्ति के कारण श्रमण और ब्राह्मण परम्परा में एक महत्त्व का अन्तर है। श्रमणों का समग्र आचार जहाँ निवृत्ति-प्रधान है, वहाँ ब्राह्मणों का

प्रवृत्ति-प्रधान। ब्राह्मणों की यज्ञ-संस्था और समग्र क्रियाकाण्ड एवं उसके फलाफल का यदि विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके द्वारा स्वर्ग-सुख-प्राप्ति के ही सब प्रयत्न होते थे; अतः उनमें निवृत्ति को नहीं, प्रवृत्ति को ही स्थान था। इसके विपरीत श्रमणों को प्रवृत्ति सर्वथा ही त्याज्य रही; क्रियाकाण्ड भी उनकी दृष्टि में त्याज्य रहे। 'करने' की अपेक्षा 'नहीं करना' ही उनकी दृष्टि में महत्त्व की वस्तु रहा। ब्राह्मण-कर्मकाण्डों के रहस्य का विचार करें तो ये कर्मकाण्ड व्यक्ति-प्रधान नहीं, सामूहिक हैं। अतः ब्राह्मण-धर्म निरा वैयक्तिक धर्म नहीं अपितु सारे समाज का धर्म हो जाता है। जबकि श्रमण-धर्म निवृत्ति-प्रधान होने से सामाजिक नहीं, निरा वैयक्तिक धर्म ही रह सकता व रह जाता है। फलतः इसमें अकेला व्यक्ति भी, बिना किसी की सहायता के, इसका भली प्रकार आचरण कर सकता है और उसे ऐसा करना ही चाहिये। इसी वैयक्तिक दृष्टि से इसमें समग्र आचार व्यवस्थित-संगठित हुआ है। ऐसी ऐकान्तिक निवृत्ति में परस्परोपकार की भावना को स्थान रहता ही नहीं। इसमें महाकरुणा या करुणा को भी कोई स्थान नहीं। प्रवृत्ति-प्रधान ब्राह्मण-धर्म में फलाफल की समग्र जवाबदारी किसी उपास्य पर होने के कारण, उसमें महाकरुणा अथवा करुणा को पूरा-पूरा अवसर प्राप्त है और इसीलिए परस्परोपकार को भी अवसर है। जब ब्राह्मण और श्रमण दोनों परम्पराओं का समन्वय हुआ तो जहाँ ब्राह्मणों ने संन्यास-आश्रम के रूप में श्रमणों की निवृत्ति को प्रश्रय दिया, वहाँ श्रमणों ने ब्राह्मणों से करुणा और महाकरुणा ले ली और अन्य प्राणियों के प्रति तीर्थंकरों (जिनों) की इस महाकरुणा के कारण ही, अन्य केवलियों से विशेषता मान ली। इस प्रकार ब्राह्मणों और श्रमणों के जीवन में जो ऐकान्तिकता थी, उसके स्थान में समन्वय हुआ और उसके फलस्वरूप दोनों एक-दूसरे के बहुत ही निकट आ गयी। अब ब्राह्मण और श्रमण दोनों ही दोनों के उपास्यों को तत्त्वतः एक स्वीकार करने तक की दलीलें देने लगे। ब्राह्मणों के अनेक कर्मकाण्डों का श्रमणों ने रूपान्तर कर दिया। यही नहीं, उन्हें अपने अनुकूल बनाकर स्वीकार भी कर लिया। इसी प्रकार ब्राह्मणों ने भी श्रमणों के अनेक आचारों को स्वीकार कर लिया। अतः दोनों परम्पराओं में तत्त्वतः जो भेद था वह गौण हो गया और दोनों प्रायः एक जैसी हो गयीं जिसे कि आज हम सब हिन्दू संस्कृति के नाम से पहचानते हैं।

इतना होते हुए भी दोनों परम्पराओं के आन्तर प्रवाह कभी भी एक नहीं हुए, यह हमें नहीं भूलना चाहिये। बहुजन-समाज में नागे, निर्लज्ज, नंगठे, मेहतर (महत्तर भंगी) आदि शब्द बहुमान सूचक नहीं रह पाये। श्रमणों की दृष्टि में नग्न रहना बहुत महत्त्व की बात है, लज्जा को जीतना बहुत भारी बात है। फिर भी नग्न, नंगा, नंगठा, निर्लज्ज आदि शब्द निन्दासूचक बन गये हैं। इसी तरह गुजराती शब्द 'भामटा' मूलतः ब्राह्मण शब्द का ही रूपान्तर होते हुए, आज उचक्का, आवारा जैसे अर्थवाला निन्दासूचक हो गया है। दोनों परम्पराओं के

वैरमूलक व्यवहार में से ही ऐसे शब्दों की अथवा उनके अर्थ-विपर्यय की सृष्टि हुई है। अशोक जैसे की 'देवनांप्रिय' बहुजन-सम्मत उपाधि का भी ब्राह्मणों ने 'मूर्ख पशु' अर्थ ही नहीं कर दिया अपितु इस शब्द का इसी अर्थ में प्रचलन भी किया है।

वैदिक निष्ठा सब जीवों का सम्बन्ध 'एक' के साथ मानती है और इसी-लिए वह समाज-जीवन को बहुत महत्त्व देती है। यह भी कारण है कि उसमें सामाजिक नीति की रचना पायी जाती है। जो व्यक्ति समाज की इकाई रूप में अपने को स्वीकार करे, उसका जीवन समाज के प्रतिकूल हो नहीं सकता है; इसलिए उसमें समाजशास्त्र की रचना है। एक सामाजिक प्राणी का जीवन-व्यवहार और उसकी रीति-नीति जैसी होनी आवश्यक है, उससे विपरीत व्यक्तिनिष्ठ श्रमणों में समाज-व्यवस्था के लिए स्मृतियाँ नहीं हैं। यदि केवल व्यक्तिनिष्ठा ही स्वीकार की जाए तो जीवन-व्यवहार ही सम्भव नहीं हो। अतः श्रमणों के भी संघ बन गये और ऐसे संघों के व्यवस्थित करने के लिए आचार और विनय के नियम भी बने ही।

सारांश यह कि उपरोक्त रीति से दोनों परम्पराओं का समन्वय तो हुआ है, फिर भी दोनों की भेदक रेखा वेद-मान्यता एवं अमान्यता तो कायम ही रही और इसीलिए सर्वांशतः एकता उनमें कभी नहीं आ पायी और न आ पाना सम्भव ही है; क्योंकि दोनों की मूलनिष्ठा में ही भेद है और इसका निवारण न हो वहाँ तक सम्पूर्ण ऐक्य सम्भव ही नहीं है। अतः अब विचारणीय यह हो जाता है कि यह मूल निष्ठा दोनों की क्यों जुदा रहती है? उसमें ऐक्य को अवसर नहीं मिलने के कारण क्या हैं?

समग्र विश्व के मूल में कोई एक ही तत्त्व—परम तत्त्व है, उसीमें से इस विश्व-प्रपञ्च की सृष्टि हुई है, यह वैदिक निष्ठा, मान्यता है। इस परम तत्त्व का ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर आदि नाना नामों से परिचय कराया जाता है। इस मूलनिष्ठा को स्थिर रखकर ही भिन्न-भिन्न वैदिक परम्पराएँ प्रचलित हुई हैं और इन सब परम्पराओं में इस परम तत्त्व की उपासना को अनेक नामों से स्थान प्राप्त हुआ है। यद्यपि इसी एक तत्त्व में से अथवा एक ही तत्त्व के आधार या निमित्त से समग्र विश्व-सृष्टि की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण करने को अनेक मत-मतान्तर, अनेक वैदिक दर्शन विकसित हुए हैं, परन्तु उन सबमें 'एक' की निष्ठा समान रूप में कायम है।

इसके विपरीत श्रमण-परम्परा में ऐसा कोई 'एक' तत्त्व स्वीकृत नहीं हुआ कि जो समग्र विश्व-प्रपञ्च के लिए उत्तरदायी हो। यह संसार-लीला अनादि काल से चली आ रही है और इसके लिए उत्तरदायी अनेक जीव स्वयम् ही हैं, दूसरा कोई नहीं। सारांश यह कि अनादि काल से एक नहीं अपितु अनेक मूल तत्त्व हैं। अतः इसमें किसी एक की उपासना को वस्तुतः स्थान हो नहीं सकता है।

वैदिक परम्परा में परम उपास्य की करुणा हो तभी परम से पृथक् हुए जीवों का फिर से परम में मिल जाना, समा जाना सम्भव है। परम भाव प्राप्त करने को जीव परम की उपासना द्वारा करुणा प्राप्त करे। परम भाव प्राप्ति का यही स्वाभाविक क्रम है; परन्तु श्रमणों में ऐसा कोई परम तत्त्व नहीं है अतएव उसके साथ मिल जाने अथवा उसमें समा जाने का वहाँ प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इसीलिए श्रमणों में ऐसे मौलिक परम तत्त्व की उपासना को कोई भी स्थान नहीं है; परन्तु अनादि काल से संसार का जो चक्र चलता है, उसकी गति रोकने को पुरुषार्थ की वहाँ कृतार्थता है। ऐसा पुरुषार्थ जिन्होंने किया हो, वे व्यक्ति आदर्श रूप बनते हैं और वैसा पुरुषार्थ कोई भी करे तो वह उसका अनुकरण-मात्र करता है, न कि उसकी उपासना ऐसा मानना चाहिये।

परन्तु श्रमणों में ब्राह्मणों की देखादेखी उपासना-तत्त्व प्रवेश पा ही गया। परन्तु उनकी मूलनिष्ठा में भेद होने के कारण, उनकी उपासना एकपक्षीय उपासना है; क्योंकि उनका उपास्य उपासक के लिए कुछ भी करने को समर्थ नहीं है। यह उपास्य मात्र ऐसा ध्रुव तारा है जिसको दृष्टि के समक्ष रखता हुआ उपासक अपना मार्ग आप ही निश्चित करता है; याने सच्चे अर्थ में इसे उपासना कहा ही नहीं जा सकता है। फिर भी ब्राह्मण-परम्परा के समान श्रमण-परम्परा की उपासना में मन्दिर और मूर्ति के आडम्बरों को पूर्णतया स्थान मिल ही गया। इसको श्रमणों का तात्त्विक धर्म नहीं अपितु बाह्य धर्म ही मानना चाहिये। इस उपासना का स्पष्टीकरण इस प्रकार भी किया जा सकता है कि उपासना परम तत्त्व की हो अथवा अपनी, परन्तु बाह्य आचार में तो उसका मार्ग एक-सा ही हो सकता है। भेद हो तो इतना ही कि एक परम तत्त्व को प्राप्त करने को प्रयत्नशील है तो दूसरा अपने ही को प्राप्त करने के लिए मथ रहा है। एक की दृष्टि में परम वस्तुतः उपासक से पृथक् नहीं है जबकि दूसरे की दृष्टि में भी आप अपने से पृथक् नहीं हैं। एक की दृष्टि में उपास्य आदर्शभूत परम तत्त्व मूलतः एक ही है और अन्त में भी एक ही है; परन्तु दूसरे की दृष्टि में मूल में और अन्त में कहीं अपने से भिन्न नहीं होते हुए भी पर से तो वह भिन्न है ही। इस भेद के कारण ब्राह्मण और श्रमण की निष्ठा-विश्वास-मान्यता में जो भेद है, उसका सम्पूर्ण समन्वय तो कभी हो ही नहीं सकता है और जिस सीमा तक यह सम्भव था, उतना तो दोनों समाजों ने कर ही लिया है।

(श्री कस्तूरचन्द बांठिया द्वारा गुजराती से अनूदित)

□

ज्ञान-समाधि

कुछ लोग शास्त्रों के स्वाध्याय का खण्डन करते हैं। यह खण्डन ज्ञान का नहीं होना चाहिये। खण्डन होना चाहिये संवेदन का। हम कहीं से जानें--पुस्तक को पढ़कर जानें, सुनकर जानें कहीं से भी जानें, अगर ज्ञान है तो कोई कठिनाई नहीं है। ज्ञान कहीं नहीं भटकाता। भटकाता है संवेदन। ज्ञान और संवेदन को ठीक तरह से समझ लें तो सारी समस्याएँ सुलझा जाती हैं। इनको ठीक से नहीं समझते हैं तो कभी हम ज्ञान को कोसते हैं, कभी शास्त्रों को कोसते हैं, कभी पुस्तकों को कोसते हैं, गालियाँ देते हैं, उनके लिए ऊटपटाँग बातें करते हैं। यह दोष उन शास्त्रों का नहीं, उन ग्रन्थों का नहीं, उन पुस्तकों का नहीं, पुस्तक लिखने वाले ज्ञानी पुरुषों का नहीं, यह हमारा ही दोष है।

☐ मुनि नथमल

मैं उस समाधि की चर्चा करूँगा जो सबसे सरल है, पर है सबसे कठिन। ज्ञान-समाधि सबसे सरल इसलिए है कि उसमें कुछ करना नहीं होता। उसमें न आसन करना होता है, न प्राणायाम और न ध्यान। कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। भक्ति और पूजा करने की भी जरूरत नहीं है। कर्म और उपासना करने की भी जरूरत नहीं है। इसमें कर्मयोग और भक्तियोग दोनों छूट जाते हैं। हठयोग भी छूट जाता है। कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। जिसमें कुछ भी करने की जरूरत नहीं, वह सबसे सरल होता है, किन्तु जिसमें कुछ भी करने की जरूरत नहीं होती, वह सबसे कठिन भी होता है। ज्ञानयोग में कुछ भी करना नहीं होता, पर यह करना बड़ा कठिन है। ज्ञानयोगी वही बन सकता है जो संन्यास की स्वस्थ भूमिका पर पहुँच जाता है। यह कठिन क्यों है--इसे स्पष्ट करना है। हम जो करते हैं, जो घटना घटित होती है, हम जो जानते हैं--इन दोनों को मिला देता है साधारण आदमी। एक घटना घटित होती है, व्यक्ति उसे अपने ज्ञान से जोड़ देता है।

एक आदमी किसी गाँव में गया। पूर्व-परिचित के यहाँ ठहरा। देखा, जिस घर में ठहरा है, वह मित्र अत्यन्त उदास नजर आ रहा है। उसने पूछा--'मित्र! जब मैं पहले आया था, तब तुम बहुत प्रसन्न थे । आज उदास क्यों, वह बोला--'क्या सही बताऊँ? बात यह है, पहले इस गाँव में दुमंजला मकान एक मेरा ही

था। मैं बहुत प्रसन्न रहता था। अब मेरे पड़ौसी ने एक सुन्दर तिमंजिला मकान बना लिया है। इसलिए हर वक्त मुझे बेचैनी सताती रहती है। वह तिमंजिला मकान मेरी स्मृति से ओझल ही नहीं होता।' अब आप देखें घटना कहाँ घटित हुई और परिणाम किसमें अभिव्यक्त हुआ। एक तिमंजिला मकान बन गया, घटना घटित हो गयी। जानते सब हैं, पर सबको कोई कष्ट नहीं होता। कष्ट उसी को होता है, जो ज्ञान को घटना के साथ जोड़ देता है। एक-द्वेष का भाव संचित कर लिया और उसे अपने ज्ञान से जोड़ दिया। यह है अज्ञान।

हम ज्ञान किसको कहें? ज्ञान वह होता है जहाँ केवल जानना होता है, ज्ञप्ति होती है। जहाँ जानने के सिवाय कुछ भी नहीं होता, वह होता है मात्र ज्ञान।

अज्ञान क्या होता है? अज्ञान का मतलब जानना तो है, पर उसके साथ और कुछ जुड़ जाता है। उसके साथ राग-द्वेष, मोह, मद आदि-आदि जुड़ जाते हैं। जहाँ वे जुड़ते हैं, वहाँ ज्ञान अज्ञान बन जाता है।

जो ज्ञानी होता है, वह समाधि में रहता है। ज्ञानी को समाधि प्राप्त होती है। ज्ञान समाधि है, अज्ञान समाधि नहीं है। वह असमाधि है। वह ज्ञान जिसके साथ राग-द्वेष, मोह आदि का सम्बन्ध है, वह ज्ञान समाधि नहीं है। समाधि वहीं है जहाँ केवल ज्ञान है, मात्र ज्ञान है, वेदना नहीं है। जहाँ ज्ञान और वेदन—दोनों हैं, वह अज्ञान है।

आज के लोग शिक्षा के क्षेत्र में कहते हैं कि ज्ञान का यह परिणाम आ रहा है; किन्तु ज्ञान का यह परिणाम नहीं है। यह परिणाम संवेदन के साथ आ रहा है। ज्ञान के साथ संवेदन के जुड़ जाने से वही परिणाम आयेगा, जो आज आ रहा है। इससे भिन्न परिणाम नहीं हो सकता। जहाँ ज्ञान के साथ संवेदन जुड़ जाता है, वहाँ वह ज्ञान नहीं रहता, संवेदन या अज्ञान बन जाता है। आज जो है वह संवेदन है, ज्ञान नहीं है। ज्ञान वही होगा जो खालिस ज्ञान है, केवल ज्ञान है, मिश्रण नहीं है। योगसार में लिखा है—

'यथावस्तु परिज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानिभिरुच्यते।
रागद्वेषमदक्रोधैः, सहितं वेदनं पुनः॥'

जो वस्तु जैसी है, वैसा ज्ञान होना अर्थात् सत्य का बोध होना ज्ञान है। ज्ञान के साथ जब राग-द्वेष आदि जुड़ते हैं, तब वह संवेदन बन जाता है, ज्ञान नहीं रहता। दोनों में यही अन्तर है। संज्ञा और ज्ञान में यही फर्क है। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि-आदि संज्ञाएँ हैं। ज्ञान का अर्थ है—ज्ञान और वेदना का सम्मिश्रण। जब ज्ञान वेदना बनता है तब संज्ञा बन जाती है। जो कोरा ज्ञान है, वह समाधि है। वेदन मिलते ही वह असमाधि बन जाती है। वेदान्त में एक शब्द है—द्रष्टा। द्रष्टाभाव ही ज्ञान-समाधि है।

तटस्थ भाव, साक्षीभाव, द्रष्टाभाव और ज्ञान-समाधि—ये सब एकार्थक शब्द हैं। कोई अन्तर नहीं है। शब्दों का अन्तर है। द्रष्टाभाव का मतलब है—घटना घटित हो रही है, उससे अपने आपको अलग कर देना। उसमें लिप्त नहीं होना। कुछ भी घटित हो रहा हो, उसके साथ अपने ज्ञान के सूत्र को नहीं जोड़ना। यही द्रष्टाभाव या साक्षीभाव है। यह स्थिति जिसे प्राप्त हो जाती है, वह अपने ज्ञान को केवल ज्ञान रखना चाहेगा और वेदन से दूर रहने की क्षमता जिसमें आ जाती है, वह सचमुच ज्ञान-समाधि पा लेता है। यह कठिन वात अवश्य है। पढ़ना अलग वात है और ज्ञान-समाधि अलग वात है। पढ़ना ज्ञान-समाधि नहीं है। ज्ञान-समाधि साधना है।

दशवैकालिक सूत्र में ज्ञान-समाधि का वहुत सुन्दर क्रम प्रतपादित है। उसमें चार वातें मुख्य हैं। पहले होता है ज्ञान। उसका फलित होता है, चित्त की एकाग्रता। ज्ञान का परिणाम होगा एकाग्रचित्तता। जो ज्ञान होगा, उसमें चंचलता हो नहीं सकती। सारी चंचलता आती है वेदना के द्वारा। ज्ञान में चंचलता नहीं। संवेदन चंचलता पैदा करता है। घटना से हम जुड़ जाते हैं तव संवेदन आता है, क्षोभ आता है और तव मन तरंगित हो जाता है। जव कोरा ज्ञान होता है, उसमें वह स्थिति नहीं होती। उसका तीसरा परिणाम है—स्थितात्मा। चंचलता समाप्त हो जाती है। साधक स्थितात्म हो जाता है। राग और द्वेष मन को अस्थिर वनाते हैं। जव दोनों नहीं होते तव साधक सत्य में स्थित हो जाता है। वह स्वयं स्थित होकर दूसरों को भी सत्य में स्थित करता है। ये चार वातें हैं—

१. विशुद्ध ज्ञान होना।

२. एकाग्रचित्त होना।

३. स्वयं सत्य में प्रतिष्ठित होना।

४. दूसरों को सत्य में प्रतिष्ठित करना।

ज्ञान-समाधि की परिपूर्णता की ये चार वातें हैं। साधक को इनका अभ्यास करना चाहिये।

योगशास्त्र में अन्नमयकोष, प्राणमयकोप और मनोमयकोप के पश्चात् विज्ञानमयकोप वतलाया है। विज्ञानमयकोष का अर्थ है—विज्ञान शरीर। कोष का अर्थ है शरीर। ज्ञान शरीर, वुद्धि शरीर या मस्तिष्क के पीछे जो सूक्ष्म शरीर है—यह विज्ञानमय कोप है। हमारे शरीर के ऊपर का जो भाग है, वह ज्ञान से सम्वन्धित है। यह ज्ञान-क्षेत्र है। पृष्ठरज्जू या कटि का जो क्षेत्र है, वह है काम-क्षेत्र। ये दो मुख्य केन्द्र हैं—ज्ञान-केन्द्र और काम-केन्द्र। जव ज्ञानधारा ऊपर से नीचे की ओर प्रवाहित होने लग जाती है तव मन की चंचलता, इन्द्रियों की चंचलता, वासनाएँ और आवेग, क्षोभ और उदासियाँ—ये सारी स्थितियाँ वनती हैं। जव काम-केन्द्र की ऊर्जा को ऊपर ले जाते हैं या ज्ञान-केन्द्र में ले जाते हैं या ज्ञान-केन्द्र से नीचे नहीं उतरने देते तव स्थितात्मा हो जाते हैं। इस स्थिति

में राग-द्वेष नहीं सताते। क्षोभ और मोह नहीं सताते। आवेश और वासनाएँ नहीं सतातीं। यह ज्ञान का स्थान है और वह वासना का स्थान है।

हमारी एकाग्रता से हमें ज्ञान प्राप्त हुआ और ज्ञान के वाद हम सत्य में एकाग्र हो गये, एकाग्रता की स्थिति आ गयी। हम उस धारा को नीचे नहीं ले जाते, उसे नीचे नहीं उतरने देते। नीचे उतरने नहीं देने का अर्थ ही है कि हमारी वृत्तियों में परिवर्तन आ गया है। इसे कहते हैं—अन्तर्मुखता। वहिर्मुखता की वात समाप्त होकर अन्तर्मुखता प्राप्त हो जाती है। उस स्थिति में इन्द्रियाँ वदल जाती हैं, मन वदल जाता है। जो इन्द्रियाँ किसी दूसरी ओर दौड़ रही थीं, वे अपने आप में प्रत्याहृत अथवा प्रत्याहार की स्थिति में आ जाती हैं। मन जो वाहर की ओर जा रहा था वह भी अन्तर्मुख हो जाता है, संयमित हो जाता है। प्रति-संलीनता फलित हो जाती है। इसका अर्थ है अपने-आप में लीन होना। प्रति-संलीनता घटित होती है। इन्द्रियाँ जो बाहर की ओर दौड़ रही थीं, वे अपने आप में लीन हो जाती हैं। जो वच्चा घर से वाहर चला गया था, वह पुनः घर में आ जाता है। मन का पंछी जो वाहर की ओर जाना चाहता था, वह थककर पींजड़े में आकर बैठ जाता है। वाहर जाने की स्थिति समाप्त। उनका क्रम वदल जाता है। स्थितात्मा की स्थिति प्राप्त होती है। ज्ञान जव ज्ञान-केन्द्र में ही रहता है, ज्ञान की धारा जब ज्ञान-केन्द्र में ही रहती है तव आदमी स्थितात्म हो जाता है। वह इतना स्थिर वन जाता है कि कुछ भी करने को शेष नहीं रहता। स्थितात्मा ही दूसरों को स्थित वना सकता है। चल व्यक्ति किसी को स्थित नहीं वना सकता। स्थित आत्मा ही स्थित वना सकता है। ज्ञान-समाधि के क्रम में सवसे पहले ज्ञान है, चाहे वह पुस्तकीय ज्ञान ही क्यों न हो। वह गलत नहीं है। शास्त्रों में हजारों-हजार व्यक्तियों के अनुभव संदृब्ध है। उनका स्वाध्याय करने का अर्थ है कि हजारों-हजार अनुभवों से लाभ उठाना। कुछ लोग शास्त्रों के स्वाध्याय का खण्डन करते हैं। यह खण्डन ज्ञान का नहीं होना चाहिये। खण्डन होना चाहिये संवेदन का। हम कहीं से जानें—पुस्तक को पढ़कर जानें, सुनकर जानें, कहीं से भी जानें, अगर ज्ञान है तो कोई कठिनाई नहीं है। ज्ञान कहीं नहीं भटकता; भटकाता है संवेदन। ज्ञान और संवेदन को ठीक तरह से समझ लें तो सारी समस्याएँ सुलझ जाती हैं। इनको ठीक से नहीं समझते हैं तो कभी हम ज्ञान को कोसते हैं, कभी शास्त्रों को कोसते हैं, कभी पुस्तकों को कोसते हैं, गालियाँ देते हैं, उनके लिए ऊटपटाँग वातें करते हैं। यह दोष उन शस्त्रों का नहीं, उन ग्रन्थों का नहीं, उन पुस्तकों का नहीं, पुस्तक लिखने वाले ज्ञानी पुरुषों का नहीं, यह हमारा ही दोष है। हम संवेदन की धारा में जाकर ज्ञान पर तीव्र प्रहार करने लग जाते हैं। यह वहुत वड़ी आत्म-भ्रान्ति है। यह नहीं होनी चाहिये। ज्ञान होना चाहिये। वह ज्ञान चाहे अन्तरात्मा से प्रगट हो और चाहे वाहर से स्वीकृत या गृहीत हो, वह अन्त-र्मुखता का कारण वनता है। जव कोरा ज्ञान है तो हमारी कोई कठिनाई नहीं है।

हमारी सावधानी सिर्फ उस प्रवाह में होनी चाहिये कि यमुना के स्वच्छ पानी में दिल्ली का गंदा नाला न पड़ जाए। इतनी-सी सावधानी बरतनी चाहिये। यदि गंदा नाला पड़ता है तो ज्ञान स्वच्छ नहीं रहा, ज्ञान ही नहीं रहा, पानी स्वच्छ नहीं रहा, यमुना का पानी ही नहीं रहा। वह तो दिल्ली का पानी हो गया। यमुना का पानी जहाँ यमुना का पानी है, गंगा का पानी जहाँ गंगा का पानी है, वहाँ कोई कठिनाई नहीं है। जब गंदा नाला इसमें पड़ता है तब गंदगी आ जाती है। यह गंदगी है संवेदन की। संवेदन की गंदगी को साफ पानी से अलग करते रहें तो ज्ञान की कोई कठिनाई नहीं रहती। ज्ञान-समाधि वास्तव में समाधि का सबसे बड़ा सूत्र है। आदमी को यदि समाधि मिल सकती है तो ज्ञान के द्वारा ही उच्चकोटि की समाधि प्राप्त हो सकती है। और-और क्षेत्रों में बहुत खतरा है। प्राणायाम से लाभ है तो खतरा भी बहुत है। आसन करने में लाभ हैं तो खतरे भी हैं। थोड़ी-सी भूल बड़ा खतरा पैदा कर देती है। एकाग्रता करने में भी खतरा है। यदि इसमें अधिक तनाव आ गया, ऊष्मा अधिक बढ़ गयी तो दिमाग पागल-जैसा बन जाता है। आदमी पागल हो जाता है। रोने-चिल्लाने लग जाता है। ऐसा लगने लगता है कि मानो उसे भूत लग गया हो। इस प्रकार हर बात में कठिनाई है। सबसे निरपवाद और निर्विघ्न कोई समाधि है तो वह है ज्ञान-समाधि। मैंने पहले ही कहा था कि यह जितनी निर्विघ्न है उतनी ही कठिनतम। इतना जागरूक रहना और राग-द्वेष की धारा को ज्ञान के साथ न जोड़ना, बहुत ही कठिन साधना है। इस साधना के लिए, ज्ञान की समाधि के लिए हमें द्रष्टाभाव का अभ्यास करना होता है। वेदान्त की भाषा में कहूँ तो द्रष्टाभाव और जैन परिभाषा में कहूँ तो शुद्ध उपयोग अवस्था।

हमारी चेतना का उपयोग बिलकुल शुद्ध रहे। उसमें कोई भी अशुद्धता न आये। पुण्य का भाव भी न आये। शुद्ध का मतलब है—जहाँ शुद्ध भाव भी नहीं, पुण्य का भाव भी नहीं। यह संवर की स्थिति है। इस शुद्धता की स्थिति का क्रम निरन्तर चालू रहे, अभ्यास चालू रहे तो ज्ञान की समाधि प्राप्त होती है। चेतना को केवल शुद्ध व्यापार में रखना कोई साधारण बात नहीं है। आदमी बहुत जल्दी प्रभावित होता है घटनाओं से। सामने जो घटना आती है, उसी में वह जता है। राग की आती है तो राग में और द्वेष की आती है तो द्वेष में वह जाता है। देखकर भी वह जाता है क्योंकि उसमें भावुकता है, संवेदनशीलता है। आदमी संवेदनशील होता है। साहित्य में संवेदनशीलता बहुत बड़ा गुण माना जाता है। कहीं भी कुछ घटित होता है, तो आदमी का मन संवेदना से भर जाता है। आदमी हर बात को अपने साथ जोड़ लेता है। यहाँ से कठिनाई प्रारम्भ हो जाती है। इससे बचने के लिए उसे संवेदना से बचना होगा; इसलिए जो कोई भी सत्य का शोधक होगा, उसके लिए अनिवार्य शर्त है कि उसमें संयम का बल हो। जिसमें संयम का बल नहीं है, वह सत्य का शोधक नहीं हो सकता; क्योंकि जो सत्य

का शोधक होता है, वह तटस्थ होता है, पक्षपात से मुक्त। जब उसके सामने प्रश्न आयेगा कि अमुक तो माना हुआ तथ्य है। वह कहेगा—चाहे माना हुआ हो, पर सत्य यह है।

कुछेक वैज्ञानिकों के लिए कहा जा सकता है कि वे ज्ञान-समाधि में थे। सब वैज्ञानिक नहीं, किन्तु कुछेक। अल्बर्ट आइन्स्टीन के जीवन को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह ज्ञान की समाधि और योगी की स्थिति में था। वह साधक था। वह साधना का जीवन जी रहा था। उस समय उसके सामने एक प्रश्न आया—इलेक्ट्रॉन क्या है? वह तरंग है या कण? कण स्थिर होता है और तरंग गतिशील। वास्तव में वह है क्या? इलेक्ट्रॉन न केवल स्थिर है और न गतिशील। वह दोनों है। यह स्थापना की आइन्स्टीन ने। पहले ऐस नहीं माना जाता था। आइन्स्टीन ने कहा—"पहले के वैज्ञानिकों ने इसे कैसे माना मैं नहीं कह सकता; पर इलेक्ट्रॉन कण और तरंग दोनों हैं। ये दोनों विरोधी अवश्य हैं। वह कण भी और तरंग भी कैसे हो सकता है, मैं नहीं जानता। पहले क्या माना जाता था, मैं नहीं जानता किन्तु ये दोनों कण और तरंग सामने हैं, प्रत्यक्ष हैं। ऐसा घटित हो रहा है।' इस तथ्य की अभिव्यक्ति के लिए आइन्स्टीन ने एक शब्द चुना 'क्वाण्टा' जहाँ गतिशीलता भी है और स्थायित्व भी है। पहले क्या माना जाता था, परस्पर में विरोध दिखायी दे रहा है—इन सबसे परे हटकर आइन्स्टीन कहता है कि मैं नहीं जानता यह क्यों है, पर है यह ऐसा ही। क्यों है—यह भी मैं नहीं जानता। पर है—यह सत्य है, इसे जानता हूँ। जो सत्य सामने आ रहा है, उसी को मैं कह रहा हूँ।'

सत्य के लिए समर्पित होता है ज्ञानयोगी। उसके मन में कोई पूर्वाग्रह नहीं होता कि कल क्या माना जाता था, आज क्या माना जाता है या परसों क्या माना जाएगा? उसके मन में यह विकल्प ही नहीं उठता कि कल मैंने क्या कहा था? आज क्या कह रहा हूँ? तात्त्विक आदमी के मन में यह विचिकित्सा हो सकती है कि कल मैंने इस सन्दर्भ में यह कहा था तो आज मैं उसी सन्दर्भ में ऐसे कैसे कह सकता हूँ? किन्तु दो प्रकार के व्यक्तियों के मन में यह विचिकित्सा नहीं होती—एक तो राजनीतिक व्यक्ति के मन में और दूसरे सत्य-शोधक के मन में। कुशल राजनीतिज्ञ वह माना जाता है जो सुबह एक बात कहे और दोपहर में दूसरी बात कहे और यह भी सिद्ध कर दे कि उस समय वह बात ठीक थी तथा अब यह बात ठीक है। सत्य-शोधक भी वही हो सकता है जो सुबह एक बात कहे और दोपहर में दूसरी! किन्तु उसके सामने कोई तर्क नहीं होता। वह कहेगा—'भाई! मुझे उस समय वह सत्य लग रहा था और अब यह सत्य लग रहा है।'

श्रीमज्जयाचार्य सत्य-संधित्सु थे, योगी थे, ज्ञानयोगी थे, ध्यान-योगी थे। उनसे पूछा गया—'आपके पूर्वज आचार्य भिक्षु ऐसा कहते थे और आप ऐसा कह

रहे हैं। या तो वे सत्य थे या आप।' उन्होंने कहा--'उनका व्यवहार उनके पास था और हमारा व्यवहार हमारे पास। वे अपने शुद्धज्ञान से अपना व्यवहार चलाते थे और हम अपने शुद्धज्ञान से अपना व्यवहार चलाते हैं। न वे असत्य हैं और न हम असत्य हैं। उनको वह सत्य लग रहा था इसलिए उसका आचरण किया, असत्य जानकर नहीं। हमको यह सत्य लग रहा है इसलिए इसका आचरण करते हैं, असत्य जानकार नहीं। असत्य का आचरण न वे करते थे और न हम करते हैं। दोनों सत्य हैं। कोई असत्य नहीं है। सत्य-शोधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है यह; क्योंकि या तो हम यह मान लें कि सत्य के सारे पर्याय उद्घाटित हो गये, अब कोई पर्याय शेष नहीं है। केवल ज्ञानी ही यह कह सकता है क्योंकि उसके सामने सत्य के सारे पर्याय उद्घाटित हैं। हमारे सामने सारे पर्याय उद्घाटित होने बाकी हैं। इस स्थिति में हम नहीं कह सकते कि जो आज तक जाना गया वही सत्य है और जो आगे जाना जाएगा वह सत्य नहीं होगा।

ज्ञानयोगी सत्य के प्रति समर्पित होगा। वह कहीं भी राग-द्वेष के प्रति समर्पित नहीं होगा। महावीर ने कहा--ज्ञानयोगी 'अणिस्सियोवस्सिथ' होता है, किसी के प्रति झुका हुआ नहीं होता। वह केवल सत्य के प्रति झुका हुआ होता है। वह न सिद्धान्त के प्रति, न शास्त्रों के प्रति और न किसी के वचन के प्रति झुका हुआ होता है। वह केवल सत्य के प्रति समर्पित होता है। जो इतना साधनाशील होता है, वही ज्ञानयोगी होता है। यह बड़ी साधना है--रागद्वेष से मुक्त होने की साधना है, संयम की साधना है, तटस्थता की साधना है। पक्षपात से मुक्त रहने की साधना है, केवल सत्य-शोध और सत्य-जिज्ञासा की साधना है। इस साधना में जाने वाला ज्ञान के रहस्यों को अनावृत कर देता है। □

काल-चक्र के तुरंग धाये

युग पर युग बीत गये आये
कालचक्र के तुंग धाये--

देकर बलि जब निरीह प्राणों की
जाती थी धर्म-बेलि सींच
ब्राह्मणत्व पूर्ण स्वार्थ में डूबा
और अधिक आँखें लीं भींच
लेकिन तुम देख नहीं पाये
पीड़ा के मेघ सहज छाये--

रूढ़िवाद के विरुद्ध तुमने हे
फूंक दिया नाथ सहज शंख
पीड़ित जन देख अश्रु फूट पड़े
तुमने भर लिया उन्हें अंक
युग के हे पुरुष धरा-जाये
करुणाकर करुण गीत गाये--

सावन में देह तपा डाली सब
हे विरक्त योगी निष्काम
त्याग चले अपनों का मोह सभी
राजपाट वैभव -धनधाम
ज्ञान-पुरुष राह में बिछाये
धर्म-ध्वजा हाथ में उठाये--

धरती पर उदित हुए सूरज-से
नव प्रकाश गया और फैल
धर्म-अन्धता को तुम रौंद चले
अडिग बने जैसे हिमशैल
जीवन यह व्यर्थ क्यों गँवायें
वसुधा में क्यों न हम समायें
युग पर युग बीत गये आये
काल-चक्र के तुरंग धाये--

□ **डॉ. छैलबिहारी गुप्त**

सहज श्रद्धा

जैन-धारा में गृहस्थों के लिए एक शब्द है श्रावक। वड़ा पुराना शब्द है। अन्य किसी धर्म अथवा आम्नाय में इसका प्रयोग नहीं हुआ, यहाँ तक कि वौद्धों में भी नहीं। श्रावक में 'श्रा' महत्त्वपूर्ण है। उसका अर्थ है श्रद्धान। श्रावक वह है, जो श्रद्धा करता हो। श्रावक को श्रद्धा के वल पर ही सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

□ **डॉ. प्रेमसागर जैन**

भक्ति सार्वभौम है। सभी धर्म, पंथ और सम्प्रदाय भक्ति-समन्वित हैं। उनके विचार, दर्शन और आराध्य देव के नामों में कितना ही अन्तर हो किन्तु भाव-संकुल हृदय एक-सा है। **'ज्ञानादेवतु कैवल्यम्'** के प्रख्यात संन्यासी शंकराचार्य **'मोक्ष-कारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी'** कहे विना न रह सके। 'भज गोविन्दं' तो उनके भावोच्छ्वासों से भरा अमर गीत है। आगे का संसार भले ही 'अद्वैतवाद' को भूल जाएँ, किन्तु 'गोविन्दं भज मूढ़मते' अविस्मरणीय रहेगा। यह उनकी हृदय-सिद्धि का प्रतीक है और इसी कारण देश-काल की सीमाओं से परे है। जीवन-पर्यन्त प्रतिपद पर वल देते वुद्ध के चरणों को पकड़ कर सारिपुत्त ने कहा, 'भन्ते इन चरणों की वन्दना के लिए शत-सहस्र कल्पों से भी अधिक काल तक मैंने असंख्य परिमिताएँ पूरी की हैं।' इसी भाँति वुद्ध के परिनिर्वाण के समय आनन्द ने कहा था– 'मैंने परम श्रद्धा के साथ वुद्ध की सेवा की है।' शायद इसी कारण ज्ञान-वहुल **'मिलिन्द प्रश्न'** में भी एकाधिक स्थलों पर वुद्ध की पूजा और भक्ति के प्रसंग आये। महायान दर्शन तो भक्ति-तत्त्व ही है। आगे चल कर, बौद्ध तंत्र में तारा जैसी एक सामर्थ्यवान देवी का आविर्भाव हुआ, जिसकी भक्ति भारत में ही नहीं, अन्य देशों में भी स्वीकारी गयी। एकदम आध्यात्मी, वीतरागी आर्हत् जैनों ने भी भक्ति के राग को परम्परया मोक्षरूप कहा। 'समयसार'–जैसे महान् दार्शनिक ग्रन्थ का रचयिता 'लोगस्ससुत्त' लिखे विना न रह सका। एक ओर 'सर्वार्थसिद्धि' की रचना और दूसरी ओर **"अर्हदा-चार्येषु वहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धि युक्तोऽनुरागो भक्तिः।"** में रमा मन एक ओर पैनी तार्किक प्रतिभा और दूसरी ओर 'स्वयम्भू स्तोत्र' में छलकता भक्ति-रस—साथ-साथ चलते रहे।

हृदय को जो सहजता भक्ति में मिली, न ज्ञान में, न अध्यात्म में। कारण है उसका जीवन से गहरा सम्बन्ध। भक्ति ही जीवन है। नदी का समुद्र की ओर वहना,

जीव का शिव की ओर अखण्ड आकर्षण और] सीमा का परिपुष्ट होकर भूमा में समा जाना, यही तो भक्ति है। जो वहता नहीं, बढ़ता नहीं वह जी नहीं सकता। वहने में गति है, रुकाव नहीं। जो उद्गम पर ही रुक कर रह गया, वह क्या वहेगा, क्या गतिवान वनेगा। गंगोत्री से गंगा सागर तक गंगा का सुदीर्घ प्रवाह न जाने कितने भिन्न-भिन्न रंग और आकारों वाले लघु प्रवाहों और नदी-नालों को आत्मसात् करता हुआ वहा है। क्या वह अपवित्र हो गया? क्या गंगा गंगोत्री पर ही पवित्र थी। वाद में पावनता न सहेज सकी? इसका माहात्म्य इसी में है कि उसने उन सव जीवन-प्रवाहों को अपना नाम-रूप तक दिया, जो उस में आ-आकर मिलते रहे। फिर भले ही वे गन्दे नाले थे अथवा स्वच्छ निर्झर। कवीर का कथन है '**गंगा में जे नीर मिलैला, विगरि-विगरि गंगोदक व्हैला ।।**' यह कहना गलत होगा कि हमारा वचपन का जीवन ही शुद्ध था और वाद में का अशुद्ध जीवन है। इसी भाँति भक्ति के सुदीर्घ प्रवाह में न जाने कितने प्रवाह मिले। उन सव को उसने शिवोन्मुख किया यह सत्य है।

जितना नाना प्रवाहों का मिलना स्वाभाविक है, उतना ही हर युग और राष्ट्र के प्रवाह में भिन्नता आना भी स्वाभाविक है। शायद इसी कारण महावीर ने कहा था—'मैंने जो समझा, देखा और अनुभव किया, वह तुमसे कहा, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि तुम भी वही समझो, वही देखो और वही अनुभव करो।' महावीर के युग में श्रमणधारा के सुदीर्घ प्रवाह में जो जीवन प्रवाह मिले वे आज के जीवन-स्रोतों से भिन्न थे। आज हम उसी प्रकार समझ, देख और अनुभव नहीं कर सकते, जिस प्रकार महावीर ने किया था। हम आज अपने अपने द्वार और मार्ग से गतिवान वनेंगे। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम वहाँ तक नहीं पहुँचेंगे, जहाँ महावीर तथा अन्य तीर्थंकर पहुँचे थे। भिन्न मार्ग होते हुए भी नदियाँ सागर तक पहुँचती ही हैं। उनकी मूल प्रेरणा एक है, वहाँ तक उन्हें पहुँचना ही होता है। मध्यवर्ती जीवन-प्रवाहों ने उनके माहात्म्य को सशक्त वनाया है। इससे लक्ष्य तक पहुँचने में कोई अन्तर नहीं पड़ा।

ज्ञान एक मूल तत्त्व है। उसमें जीवन-प्रवाहों की हृदय-सिद्धि को कोई स्थान नहीं है। जीवन की विविधि तरंगों को सकारती, रस को परिपुष्टि करती, प्रातः समीर-सी परमानन्द तक पहुँचाती है। उसका मार्ग रस-मार्ग है। उसमें कोई शुष्कता नहीं, कठोरता नहीं, नियम-उपनियमों की संकुलता नहीं, अर्थात् किसी प्रकार का कोई वन्धन नहीं। सव कुछ सहज है, स्वाभाविक है। जहाँ हम खड़े हैं, जो जीवन जी रहे हैं, जो कुछ कर रहे हैं, उस सव को सहेजता, अपनाता, स्वीकारता भक्ति प्रवाह प्रवहमान होता है। वह हमारे निकट है। हम उसमें सहज वह सकते हैं। कोई दिक्कत नहीं है। यही कारण है कि श्रमण परम्परा ज्ञान और तपःप्रधान होते हुए भी उसे नकार न सकी। उसने सम्यक् ज्ञान से भी अधिक महत्त्व सम्यग्दर्शन को दिया। जहाँ जैनाचार्यो ने दर्शन में 'दृशि' धातु का अर्थ श्रद्धान माना है। श्रद्धान ही मनुष्य है। यही घनीभूत होते-होते भक्ति वन जाता है; अर्थात् घनीभूत

श्रद्धा ही भक्ति है। 'सम्यक्' पर बल देने के कारण उन्होंने सुश्रद्धा को ही भक्ति रूप होने के योग्य माना, कुश्रद्धा अथवा अन्धश्रद्धा को नहीं। आचार्य समन्तभद्र सम्यक् श्रद्धान के बल पर ही जिनेन्द्र की भक्ति में लीन हो सके थे। और फिर उन्होंने 'स्वयंभूस्तोत्र' और स्तुति-विद्या जैसे महान भक्ति-ग्रन्थों की रचना की। उन्होंने स्पष्ट कहा कि श्रद्धाहीन व्यक्ति किसी में लीन नहीं हो सकता। न परमात्मा में और न आत्मा में, फिर वह परमात्मा किसी नाम रूप का हो। परमात्मा में लीन होना ही मुख्य है। उसके बिना माया-मोह क्षीण नहीं हो सकते। परमात्मा अथवा आत्मदेव की लीनता से वे स्वतः सूख जाते हैं। कोई प्रयास नहीं करना होता। अर्थात् उन्हें मारना नहीं पड़ता, वे स्वतः निःशेष हो जाते हैं। माया मोह का यह सहज निःशेषीकरण, परमात्मा की ओर उन्मुख होने की प्रारम्भ हो जाता है। तो श्रद्धा अर्थात् सम्यक् श्रद्धा की बात श्रमणधारा अपने मूल रूप में स्वीकारती रही है। **'पाइअ-सद्द-महण्णव'** में भक्ति के पर्यायवाचियों में श्रद्धा को प्रमुख स्थान दिया गया है। हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण में भी भक्ति को श्रद्धा ही कहा है।

यद्यपि आचार्य उमास्वाति और समन्तभद्र ने तत्त्वार्थ और आप्तादि के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा, किन्तु प्रश्न तो यह है कि दर्शन की 'दृशि' धातु, जिसका अर्थ देखना होता है, श्रद्धान अर्थ की द्योतक कैसे बन सकी? इसका उत्तर देते हुए आचार्य महाकलंक ने श्रीमद् राजवार्तिक भाग १, में लिखा है—"दृशेरालोकार्थत्वादभिप्रेतार्थासंप्रत्यय इति चेत् न अनेकार्थत्वात्। मोक्ष कारण प्रकरणाच्छ्रद्धानगतिः"। इसका अर्थ है कि धातुओं के अनेकार्थ होते हैं, इसलिए दर्शन से श्रद्धान अर्थ भी ले लिया जाएगा। यहाँ मौन का प्रकरण है, अतः दर्शन का अर्थ देखना उचित नहीं, तत्त्वश्रद्धान ही उचित है। आचार्य कुन्दकुन्द का अभिमत है कि आत्मदर्शन ही सम्यग्दर्शन है, किन्तु अकलंक देव का कथन है कि आत्मा का दर्शन तब तक नहीं हो सकता, जब तक वैसा करने की श्रद्धा जन्म न ले। श्रद्धापूर्वक किया गया प्रयास ही आत्मदर्शन कराने में समर्थ होगा। अतः दर्शन का पहला अर्थ श्रद्धान है, दूसरा साक्षात्कार।

जैन धारा में गृहस्थों के लिए एक शब्द है श्रावक। बड़ा पुराना शब्द है। अन्य किसी धर्म अथवा आम्नाय में इसका प्रयोग नहीं हुआ, यहाँ तक कि बौद्धों में भी नहीं। श्रावक में 'श्रा' महत्त्वपूर्ण है। उसका अर्थ है श्रद्धान। श्रावक वह है, जो श्रद्धा करता हो। श्रावक को श्रद्धा के बल पर ही सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं। सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। सरागियों अर्थात् श्रावकों को होने वाला सम्यग्दर्शन सराग सम्यग्दर्शन कहलाता है। ऐसा श्रावक केवल बाह्य रूप से रागी दिखायी देता है, परन्तु उसका अन्तः पवित्र श्रद्धा से युक्त रहता है।

श्रावक श्रद्धा के द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार का फल पा लेता है। वह अपनी आत्मा को देखने का प्रयास नहीं करता; किन्तु जिनेन्द्र में श्रद्धा करता है। जिनेन्द्र का स्वभाव रागादि से रहित शुद्ध आत्मा का स्वभाव है। इस भाँति जो अरिहंत को

जानता है, वह अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को ही जानता है और जो अर्हत के स्वरूप में स्थिर रहता है, वह अपने आत्मा के स्वरूप में ही स्थिर रहता है। इस भाँति जैन परम्परा आत्मसाक्षात्कार के सन्दर्भ में श्रद्धा का महत्त्वपूर्ण स्थान मानती है; किन्तु यह श्रद्धा प्रयत्नपूर्वक बलात्कारेण लायी हुई नहीं होनी चाहिये। उसके सहज रूप पर ही जैन आचार्यों ने बल दिया है।

सहज का अर्थ है स्वाभाविक, स्वतःस्फूर्त। अन्तर में एक लहर-सी उठी और बाहर तक खिंचती चली गयी। जब वह स्वयं उभरती है सहज रूप में तो समूचा शरीर और मन आप्यायित हुए बिना नहीं रहता। भीग जाता है ऊपर से नीचे तक। और फिर इन्सान बदल जाता है। वह नहीं रहता, जो अब तक था। दुनिया उसे खोया हुआ कहती है, पिये हुए कहती है, मदोन्मत्त कहती है। क्यों न कहेगी, उसे कहना ही चाहिये। वह उनकी अपनी धार से कट गया है, छिटक कर अलग खड़ा हो गया है। उसने उस दिशा की ओर कदम उठाये हैं जो दुनिया की दिशाओं से मेल नहीं खाती। वह विद्रोही है। अनिर्वचनीय को पाने की ललक और उस ओर प्रगतिशील चरण सदैव संसार के आक्रोश का कारण बने हैं। ईसा, सुकरात, मीरा और गांधी सभी निरादृत हुए। महावीर बचे रहे। इसलिए नहीं कि उन्होंने समाज की लकीरों को स्वीकार कर लिया, अपितु इसलिए कि उन्होंने बारह वर्ष तक एक शब्द का उच्चारण नहीं किया। जब बोले, साधना पूर्ण हो चुकी थी। वे केवलज्ञानी थे। यह दीर्घ मौन साधना चल सकी; क्योंकि चित्त सहज रूप से परमात्मा की ओर मुड़ा हुआ था। इस मोड़ को ही सम्यक् श्रद्धा कहते हैं। महावीर ने उसी पर बल दिया।

सहज श्रद्धा में अर्थ का अनर्थ भी बहुत हुआ है। साधकों ने सहज को मनमाने ढंग से मोड़ा—उसका अर्थ कर दिया और आसान और आसान वह है जो मनोनुकूल हो। मन आनन्दित होता है—सर्वकामोपभोगों के सेवन में। अतः नीच-कुलोत्पन्न स्त्री को उसने महामुद्रा के पद पर प्रतिष्ठित किया और उसके सेवन को सिद्धि का सोपान बताया। वह स्त्रीन्द्रिय को पद्म और पुरुषेन्द्रिय को वज्र मानता था। पद्म और वज्र का मिलन ही निर्वाण था। 'ज्ञानसिद्धि' नाम के ग्रन्थ में एक स्थान पर लिखा है—

"चाण्डालकुल सम्भूतां डोम्बिकां वा विशेषतः।
जुगुप्सितां कुलोत्पन्नां सेवयन् सिद्धिमाप्नुयात्।।
स्त्रीन्द्रियं च यथा पद्म वज्रं पुंसेन्द्रियं तथा।।"

किन्तु ऐसे भी साधक थे, जिन्होंने कमल और कुलिश के प्रयोग को अन्तिम ध्येय के रूप में स्वीकार नहीं किया। उन्होंने स्पष्ट कहा, "कमल तथा कुलिश के संयोग द्वारा जो साधना की जाती है, वह तो निरा सुरतविलास है और उसे कौन सांसारिक जीव प्रयोग में नहीं लाता, कौन वासना की तृप्ति नहीं करता, किन्तु वह 'परमानन्द' का क्षणांश-भर है। वास्तविक रहस्य तो इससे भिन्न और दूरस्थ होता

है।" सहज का अर्थ आसान अवश्य है, किन्तु आसान के दर्शन केवल स्त्री-पुरुष के संभोग में करना ठीक नहीं है, ऐसा तत्कालीन अनेक साधकों ने स्वीकार किया। उनमें सरहप मुख्य थे।

आसान अथवा सहज का यह विकृत अर्थ जैन साधकों में भी आया और वे चरित्र को नगण्य तथा स्त्री-आसक्ति को जायज मानने लगे; किन्तु उनकी संख्या अत्यल्प थी। कुछ समय बाद तो वे विलीन हो गये। तीर्थंकर पार्श्वनाथ और महावीर के मध्यकाल में एक सम्प्रदाय पनपा था। नाम था पार्श्वस्थ। प्राकृत में उसे 'पासत्थ' कहते थे। दोनों का अर्थ है—पार्श्वनाथ में स्थित। इस सम्प्रदाय के साधु जब नितान्त शिथिलाचारी हो गये तो 'पासत्थ' का दूसरा अर्थ 'पाशत्थ' अर्थात् पाश में फँसा हुआ किया जाने लगा। इनके नैतिक जीवन के ह्रास की बात प्रो. जैकोबी ने 'उत्तराध्ययन सूत्र' के आधार पर सिद्ध की है। यह बात भगवती आराधना में भी लिखी मिलती है—"इंदिय कसाय गुरु पत्तणेण चरणं तणं वपस्संतो। णिद्धम्मो हु सवित्ता वदि पासत्थ सेवओ ॥" इसका अर्थ है—पार्श्वस्थ मुनि इन्द्रिय, विषय और कषायों से हार कर चरित्र को तृण के समान समझता है। ऐसे पार्श्वस्थ साधु की जो सेवा करता है, वह भी वैसा ही बन जाता है। सूत्रकृतांग में एक स्थान पर लिखा हुआ है—"एवमेगे उपासत्त्था पन्नवंति अणारिया। इत्थीवसं गया बाला जिणसासण परम्भुहा ॥" अर्थात् पार्श्वस्थ साधु अनार्य, बाल, जिनशासन से विमुख और स्त्री-आसक्त होते हैं।

उन्होंने स्त्री-आसक्ति अथवा उसकी संगति अथवा उसके आकर्षण को अधर्म नहीं माना। इसका एकमात्र कारण था पार्श्वनाथ के अपरिग्रह का वक्र विश्लेषण। परिग्रह में स्त्री अन्तर्भुक्त थी। तो, परिग्रह में अन्य सांसारिक वस्तुओं की अनासक्ति की भाँति स्त्री-विरक्ति भी शामिल थी। कल्पसूत्र के "स्त्री अपि परिग्रह एव, परिग्रहे प्रत्याख्याते, स्त्री प्रत्याख्याता एव।" कथन से ऐसा सिद्ध ही है; किन्तु परिग्रह में स्त्री भी शामिल है', यह केवल समझ की बात थी। पार्श्वनाथ के युग का व्यक्ति ऋजु और बुद्धिमान था। वह इसको समझता था। महावीर का युग वक्र और जड़ था। अतः समझते हुए भी नहीं समझा। स्त्री का स्पष्ट उल्लेख तो था नहीं, तो इसी बात को माध्यम बना कर उसे परिग्रह के घेरे से पृथक् घोषित कर दिया। ऐसा करने से स्त्री-विहार की स्वतंत्रता मिल जाती थी। वह उसने ली। उसके इस विश्लेषण से शास्त्रीय आधार को कोई ठेस नहीं लगती थी।

उसे अधर्म न मानना एक बात है, किन्तु उसके भोग को धर्म कहना दूसरी बात है। उन्होंने स्त्री-संगति को धर्म का सबल आधार माना। उनका कथन था कि—"जैसे फुन्सी-फोड़े को मुहूर्त्त भर दवा देने से मवाद निकल जाता है और शान्ति पड़ जाती है, ठीक वैसे ही स्त्री के साथ समागम करने से शान्ति मिलती है। इसमें दोष क्या ?" आगे चल कर वज्रयानी तान्त्रिक साधुओं ने भी निर्वाण के लिए नारी-भोग को अनिवार्य माना। साधना प्रारम्भ करते समय मन का शान्त होना, हलका

होना आवश्यक था और यह नारी-संभोग से सहज ही हो जाता था। इससे न कुंठाएँ बनती थीं न कम्प्लेक्सेस। नारी की वारुणी से कुछ समय के लिए ही सही, साधक निर्विकार अनुभव करता था। सेक्स जैसे प्रबल विकार का यह सामयिक हल उन्हें भाया। वह चल पड़ा। साधना की मजबूत पृष्ठभूमि के रूप में।

जब पार्श्वनाथ के 'अपरिग्रह' का विकृत अर्थ, उन्हीं के भ्रमाकुलित अनुयायियों द्वारा किया जा रहा था, महावीर का जन्म हुआ। वे अपरिग्रह की इस व्याख्या से सहमत न हो सके। उन्होंने विश्व की सभी आसक्तियों को हेय माना, फिर उसमें स्त्री-आसक्ति ही क्यों न हो; किन्तु वह सबमें अधिक प्रबल है, ऐसा उन्होंने माना और इसी कारण अपरिग्रह से पृथक् ब्रह्मचर्य का स्पष्ट निर्देश किया। इस प्रकार 'अपरि-ग्रह' में अन्तर्भुक्त ब्रह्मचर्य का अस्तित्व नितान्त उजागर हो गया और भ्रम तथा संदेह का तो जैसे मार्ग ही अवरुद्ध हो गया। ब्रह्मचर्य को उन्होंने अपने समूचे जीवन में सिद्ध और पुष्ट किया। साधक महावीर और ब्रह्मचर्य दो पृथक् सत्ताएँ नहीं थीं। वे एकमेव हो गयी थीं। यही कारण था कि उस समय गिरते और ढहते आचार को एक सुदृढ़ आधार मिल सका। वह उस पर टिका और शताब्दियों टिका रहा। आज फिर गिर रहा है। उसके टिकने के लिए ऐसा ही एक मजबूत आधार चाहिये। यदि कोई दे सके तब तो ठीक है, नहीं तो कोरे वक्तव्यों, अम्बर और निरम्बर वेशों, नाना सजे-धजे मंचों और विश्व-सम्मेलनों में वह प्राप्त नहीं हो सकता, यह सत्य है।

महावीर ने जिस तत्त्व को अपने समूचे जीवन में ढाला और एक मूर्त रूप दिया, उसका नाम रखा ब्रह्मचर्य। इसकी शाब्दिक व्युत्पत्ति है—'ब्राह्मणि चरतीति ब्रह्मचारी' और उसका भाव ब्रह्मचर्य। व्युत्पत्ति का आधार है ब्रह्म, उसमें चरण करो, तभी ब्रह्म-चर्य धारण कर सकते हो, अन्यथा नहीं। यह एक पाजिटीव व्युत्पत्ति है। शायद महावीर का तात्पर्य था कि यह जीव ज्यों-ज्यों ब्रह्म में लीन होता जाएगा, उसका और सब कुछ स्वतः छूटता जाएगा। वही स्वाभाविक होगा, सहज होगा; अर्थात् उन्होंने वर्जनाओं पर बल नहीं दिया। किसी को छोड़ने की बात नहीं कही। छोड़ने और छूटने में अन्तर है। आज जो ब्रह्म की ओर मुंह किये बिना छोड़ने का दावा करते हैं, वे नहीं जानते कि बाहर का त्याज्य भीतर से उतना ही तीव्रगति से पकड़ता है। और फिर त्याग का एक दम्भ-भर रह जाता है जो बाह्य वस्तु से भी अधिक दुखदायी है। तो महावीर के ब्रह्मचर्य का मतलब था कि अब्रह्म सहज और स्वाभाविक रूप से स्वतः छूट जाए। यह तभी हो सकता था जब जीव का चित्त ब्रह्म की ओर मुड़े। यह मुड़ना ही सत्य था, कार्यकारी था। मुड़ना भी तभी स्थायी हो सकता है, जब वह स्वतः स्फूर्त हो, एक निर्झर की भाँति स्वतः चल पड़ा हो, ऐसा महावीर ने स्पष्ट कहा।

ब्रह्मचर्य के इस मूर्तरूप ने पार्श्वस्थ साधुओं को निरस्त कर दिया। वे महावीर के पंचयाम में शामिल नहीं हुए। आगे चल कर यह सम्प्रदाय नाथयोगियों में अन्तर्भुक्त हो गया। और धर्म के साधन रूप में स्त्री-भोग की बात भी समाप्त हो गयी; किन्तु वह किसी विलुप्त अन्तर्धारा की भाँति कहीं न कहीं शेष अवश्य रह गया। आगे चल कर, वही वज्रयानी तांत्रिकों और सिद्धों के कमल-कुलिश में प्रस्फुटित हो प्रवाहित हो उठा; किन्तु जैनों का मांत्रिक सम्प्रदाय इससे नितान्त अस्पृष्ट रहा। उसमें न तो स्त्री-मुक्ति का समावेश हुआ और न कन्या-बलि जैसी बात ही पनप सकी। उसने नारी को शक्ति रूपा बनाया। उसे मंत्रों से अधिष्ठित किया और वह सही अर्थों में शासन देवी बन सकी। जैनों की शासन देवी मंत्राधिष्ठातृ थी और मंत्र आधृत था जिनेन्द्र की सिद्धि वीतरागता पर, अतः इस वीतरागता या आध्यात्मिकता के स्वर ने उन्हें शक्ति-सम्पन्ना तो बनाया किन्तु उनकी शक्ति को किसी विकृत दिशा में मुड़ने नहीं दिया। मन्त्राधिष्ठातृ देवी का यह वीतरागता की शक्ति से भरा रूप और कहीं नहीं मिलता। इससे भारतीय नारी का जो समुज्ज्वल रूप प्रदीप्त हुआ, वह आज भी जन-मानस में वैसा ही अवस्थित है। उसे कोई डिगा नहीं सका। न तर्कवाद, न तत्त्ववाद और न पक्षसेवाश्रयणेन ही ऐसा संभव हो सका।

महावीर ने ब्रह्मचर्य में ब्रह्म की ओर जिस सहज मोड़ की बात की थी, उसी को आगे चल कर 'सम्यग्दर्शन' की संज्ञा से अभिहित किया गया। सम्यग्दर्शन 'दृश्' धातु की श्रद्धापरक व्याख्या ऊपर के पृष्ठों में की जा चुकी है। चित्त का सहज रूप से स्वतः ब्रह्म की ओर मुड़ जाना ही सम्यक् श्रद्धा है। उसमें कहीं बलात्कार को स्थान नहीं है। हठयोग परम्परा में इसी को मूल-कुण्डलिनी का जगना कहते हैं। जब कुण्डलिनी जग जाती हैं, तो वह सहस्रार चक्र तक पहुँचे बिना रुकती नहीं। इसी प्रकार जब चित्त ब्रह्म की ओर चल पड़ता है तो आज या कल वहाँ तक पहुँच ही जाता है। उसका यह चलना ही मुख्य है। इसी को कबीरदास ने "लौ को अंग" में अभिव्यक्त किया है। यह चित्त की लौ दो प्रकार से परमात्मा की ओर मुड़ती है—एक तो वह जो जबरदस्ती उधर मोड़ी गयी हो और एक वह जो स्वतः मुड़ी हो। यह स्वतः वाली ही सहज लौ है और यही अभीप्ट तक पहुँचने में समर्थ हो जाती है। ठेली हुई लौ मध्य में ही कहीं शुष्क हो अपने मूल प्राण गँवा बैठती है। सहज लौ से युक्त चित्त का आनन्द जिसने एक बार पा लिया, वह बार-बार ललकता है और पूरा पाये बिना मानता नहीं। अनिवर्चनीय की यह सुहागभरी ललक उसे कुछ ऐसा बना देती है, जो कहा नहीं जा सकता; अर्थात् एकमेव कर देती है। द्वित्व मिटा देती है और उसका आंगन मंगल गीतों से भर जाता है। मंगल पुष्प खिल जाते हैं। पवन महक-महक महक उठता है। सिद्ध वधुओं की वीणा मचलती है तो किन्नरियों की रुनझुन पैंजनियाँ। सौंदर्य बिखर

जाता है। काम घट भर जाता है—कामधेनु और चित्रावेलि-सा। और कण-कण बन जाता है पंचामृत।

दूसरी ओर है ठेला गया चित्त। व्रत, नियम, उपनियम, स्नान, ध्यान, घंटा, नमाज और तीर्थों में उलझा चित्त। वाह्य का ऐसा इस्पाती घेरा कि टूटे नहीं टूटता और जिन्दगी टूट जाती है। सीम की ऐसी कठोर रेखा कि जीवन चुक जाता है और धूमिल भी नहीं पड़ती। वन्द कमरों का ऐसा सूचीभेद्य तमस् कि आँखें पथरा जाती हैं और एक किरण के दर्शन नहीं होते। वात थी भूमा तक पहुँचने की, वात थी ज्योतिर्गमय की, किन्तु वाहर के ये अभेद्य घेरे, वज्रमयी कपाट, क्रम की अर्थवत्ता ही व्यर्थ-वना देते हैं। तो जैन मुनियों ने उसे सही अर्थों में अर्थवान करने का प्रयत्न किया। उन्होंने सहज के द्वारा श्रद्धा के साथ चिपके वाह्य घेरों को तोड़ने की वात कही। मुनि रामसिंह ने 'दोहा पाहुड' में मुँड मुंडाने की व्यर्थता वताते हुए लिखा, "हे मुण्डितों में श्रेष्ठ ! सिर तो तूने अपना मुंडा लिया, पर चित्त को नहीं मुंडाया। संसार का खण्डन चित्त को मुंडाने वाला ही कर सकता है।" भैया भगवतीदास ने "नाममात्र जैनी पै न सरधान शुद्ध कहूं, मूंड के मुंडाये कहा सिद्धि भई वावरे।" के द्वारा श्रद्धान के विना केवल मूंड मुंडाने को पागलपन कहा है। यहाँ तक ही नहीं, उन्होंने जप, तप, व्रत, उपवास, योग आदि को भी चित्त-शुद्धि के विना निरर्थक माना। कवि भूधरदास ने भी वाह्या-डम्वरों को व्यर्थ वताया और स्वस्थ चित्त को ही मूलाधार माना। उनका कथन था कि नीलवस्त्र जैसे मलिन चित्त से जप-तप, व्रत निरर्थक हैं। प्रसिद्ध विद्वान् कवि यशोविजयजी उपाध्याय का अभिमत है कि चित्त के भीगे विना आत्मब्रह्म के दर्शन नहीं हो सकते। संसार के कुछ मूढ़मति कर्मकाण्ड से आत्मदर्शन मानते हैं और कुछ केवल ज्ञान मात्र से, किन्तु वह दोनों से न्यारा है, ऐसा कोई नहीं जानता। उसका रस-भाव—भीनी तल्लीनता से प्राप्त होता है। इसी को महात्मा आनन्द तिलक ने संक्षेप में कहा कि—'परमानन्द शरीर को स्वच्छ करने से नहीं, अपितु चित्त को निर्मल बनाने से प्राप्त होता है, कवि वनारसीदास ने लिखा कि दिगम्वर दशा भी व्यर्थ है, यदि मन पवित्र नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्य काल के जैन साधकों और हिन्दी के कवियों ने वाह्याडम्वर-शून्य स्वतः स्फूर्त श्रद्धा के विशेषण रूप में सहज शब्द को स्वीकार किया। यही सम्यग्दर्शन सम्यक् श्रद्धा अथवा सहज श्रद्धा जैन भक्ति का आधार-स्तम्भ था। □

नीड़ और पिंजरा

अन्तर है
नीड़ और पिंजरे में
इतना ही कि
एक को
वनाया है तुमने,
दूसरे को
तुम्हारे लिए
किसी और ने

—सेठिया

संत-साहित्य और जैन अपभ्रंश-काव्य

□ डा. राममूर्ति त्रिपाठी

मध्यकालीन हिन्दी-निर्गुण-साहित्य के लिए अब 'संत-साहित्य' शब्द रूढ़ हो गया है। मध्यकालीन समस्त भारतीय साधनाएँ आगम-प्रभावित हैं– संत-साहित्य भी। संत-साहित्य को "प्रभावित" कहने की अपेक्षा मैं तो यह कहना चाहता हूँ कि "आगमिक दृष्टि" का ही वह लोकभाषा में सहज प्रस्फुरण है। अतः "प्रभावित" की जगह उसे "आगमिक" ही कहना संगत है। "आगमिक दृष्टि" को यद्यपि आर. डी. रानाडे ने अपने 'मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र' में वैदिक सिद्धान्त का साधनात्मक अविच्छेद पार्श्व बताया है। इस प्रकार वे आगम को यद्यपि नैगमिक कहना चाहते हैं–पर इससे आगम के व्यक्तित्व का विलोप नहीं होता। प्राचीन आर्य ऋषियों की एक दृष्टि का जैसा विकास और परिष्कार आगमों में मिलता है–वैसा नैगमिक "दर्शनों" में नहीं। इसलिए मैं जिसे 'आगमिक दृष्टि' कहना चाहता हूँ—उसका संकेत भले ही वैदिक वाङमय में हो–पर उसका स्वतंत्र विकास और प्रतिष्ठा आगमों में हुई–यह विशेष रूप से ध्यान रखने की बात है।

'आगम' यद्यपि भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रचलित और प्ररूढ़ शब्द है–तथापि यहाँ एक विशेष अर्थ में वांछित है और वह अर्थ है–**द्वयात्मक अद्वयतत्त्व की पारमार्थिक स्थिति**। द्वय हैं–शक्ति और शिव। विश्व-निर्माण के लिए **स्पन्दनात्मक शक्ति** की अपेक्षा है और विश्वातीत स्थिति के लिए निःस्पन्द शिव। स्पन्द और निःस्पन्द की बात विश्वात्मक और विश्वातीत दृष्टियों से की जा रही है, दृष्टि-निरपेक्ष होकर उसे कोई संज्ञा नहीं दी जा सकती। तब वह **विश्वातीत** तो है ही. विश्वात्मक परिणति की संभावना से संवादातीत होने के कारण विश्वात्मक भी। वैज्ञानिक भाषा में इन्हें ही **ऋणात्मक** तथा **धनात्मक** तत्त्व कह सकते हैं। विशेषता इतनी ही है कि "आगम" में इन्हें 'चिन्मय' कहा गया है। नैगमिक दर्शनों में कोई भी (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, पातञ्जल, पूर्व-मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा) "शक्ति" की "चिन्मय" रूप कल्पना नहीं करता। कुछ तो ऐसे हैं जो "शक्ति" तत्त्व ही नहीं मानते, कुछ मानते भी हैं तो "जड़"। "अगम" (अद्वयवादी) "शक्ति" को "चिन्मय" कहते हैं और "शिव" की अभिन्न क्षमता के रूप में स्वीकार करते है। अद्वयस्थ वही द्वयात्मकता आत्मलीला के निमित्त द्विधा विभक्त होकर परस्पर व्यवहित हो जाती है–पृथक् हो जाती है। इस व्यवधान अथवा पार्थक्य के कारण समस्त

सृष्टि अस्थिर, बेचैन, गतिमय तथा खिन्न है। इस स्थिति से उबारने के लिए इस व्यवधान को समाप्त करना पड़ता है–शक्ति मे शिव का मिलना या सामरस्य अपेक्षित होता है।

निर्गुनिए संत पहले साधक हैं–इसके बाद और कुछ। इनकी साधना है–सुरत, शब्द, योग। यह सुरत या सुरति और कुछ नहीं, उक्त "शक्ति" ही है–जो आदिम मिलन या युगनद्धावस्था को स्मृत्यात्मक बीज रूप में सभी बद्धात्माओं में पड़ी हुई हैं। प्रत्येक व्यक्ति में यही प्रसुप्त चिन्मयी शक्ति "कुण्डलिनी" कही जाती है। अथर्ववेद में यही "उच्छिष्ट" है पुराणों में यही "शेषनाग" है। स्थूलतम पार्थिकात्मक परिणति के बाद कुण्डलिप्त "शक्ति" विश्व और व्यष्टि उभयत्र मूलाधार में स्थिर है।

'कह भीखा सब **मौज** साहब की
मौजी आपु कहावत।'

भीखा साहब आगमिकों की शक्तिमान (शिव) और शक्ति की भाँति **मौजी** और **मौज** की बात करते हैं। **मौजी** को एक दूसरे संत ने **शिव** तथा **मौज** को स्पष्ट ही शक्ति कहा है—

'सुरति सुहागिनि उलटि कै मिली सबद में जाय।
मिली सबद में जाय कन्त को बस में कीन्हा।
चलै न सिव के जोर जाय जब सक्ति लीन्हा।
फिर सक्ती धी ना रहै, सक्ती से सीव कहाई।
अपने मन के फेर और ना दूजा कोई।
सक्ती शिव है एक नाम कहने को दोई।
पलटू सक्ती सीव का भेद कहा अलगाय।
सुरति सुहागिनि उलटि कै मिली सबद में जाय॥

पलटूदास की इन पंक्तियों के साक्ष्य पर उक्त स्थापना कि आगमिक दृष्टि ही संतों की दृष्टि है–सिद्ध हो जाती है।

आगम की भाँति संतजन भी **बहिर्योग** की अपेक्षा **अंतर्योग** को ही महत्ता स्वीकृत करते हैं और इस अंतर्योग की कार्यान्विति "गुरु" के निर्देश में ही संभव है। आगमों की भाँति संतजन मानते हैं कि गुरु की उपलब्धि पारमेश्वर अनुग्रह से ही संभव है। यह गुरु ही है जिसकी उपलब्धि होने पर "साधना" (अंतर्योग) संभव है। यह तो ऊपर कहा ही जा चुका है कि द्वयात्मक अद्वय सत्ता विश्वात्मक भी है और विश्वातीत भी। विश्वात्मक रूप में उसके अवरोहण की एक विशिष्ट प्रक्रिया है और उसी प्रकार आरोहण की भी। विचार-पक्ष से जहाँ आगमों ने द्वयात्मक अद्वय तत्त्व की बात की है वहीं आचार-पक्ष मे वासना (काषाय)-दमन की जगह वासना-शोधन की बात भी। जैनधारा न तो "द्वयात्मक अद्वय" की बात

स्वीकार करती है और न ही वासना के शोधन या चिन्मयीकरण की—जबकि संत-जन—विचार और आचार—दोनों पक्षों में "आगम" धारा को मानते हैं। मौजी और मौज, सुरत और शब्द के "योग" अथवा "सामरस्य" में जहाँ संतजन "द्वयात्मक अद्वय" को स्वीकार करते हैं, "वहाँ काम मिलावे राम को" द्वारा प्रेम की महत्ता का गान करते हुए तन्मय परमात्मा की उपलब्धि में वासना के शोधन और चिन्मयीकरण की भी स्थिति स्वीकार करते हैं। आगम-सम्मत संत-परम्परा से जैनधारा का एक तीसरा अंतर यह भी है कि जहाँ पहला अद्वयवादी है वहाँ दूसरा भेद-वादी। वह न केवल अनेक आत्मा की ही बात करता है अपितु संसार को भी अनादि और शाश्वत सत्य मानता है। इस प्रकार ऐसे अनेक भेदक तत्त्व उभरकर सामने आते हैं; जिनके कारण संत-साहित्य के संदर्भ में जैन साहित्य को देखना असंभव लगता है। जैन धारा कृच्छ्र एवम् अच्छेदवादी होने से शरीर एवं संसार के प्रति विरक्त सृष्टि रखती है। यही कारण है कि जैन साहित्य में यही निर्वेद भाव पुष्ट होकर शान्त रस के रूप में लहराता हुआ दृष्टिगोचर होता है। शृंगार का चित्रण सर्वदा उनकी कृतियों में वैराग्य-पोषक रूप में हुआ है। जैन काव्य का प्रत्येक नायक निर्वेद के द्वारा अपनी हर रंगीन और सांसारिक मादक वृत्ति का पर्यवसान "शान्त" में ही करता है।

पर इन तमाम भेदक तत्त्वों के बावजूद छठी-सातवी शती के तांत्रिक मत के प्रभाव-प्रसार ने जैन-मुनियों पर भी प्रभाव डाला, फलतः कतिपय अपभ्रंश-बद्ध जैन रचनाओं में संत का-सा स्वर भी श्रुतिगोचर होता है। चरमलक्ष्य से विच्छिन्न फलतः विजड़ित एवं रूढ़ प्रायः आचार-बाहुल्य के प्रति एक तीखी प्रतिक्रिया और अंतर्योग के प्रति लगाव का संतसंवादी विद्रोही स्वर कतिपय रचनाओं में विद्य-मान है। पाहुड़ दोहा, योगसार, परमात्म प्रकाश, वैराग्यसार, आनंदा, सावय धम्म दोहा आदि रचनाएँ ऐसी ही हैं। इनमें संतसंवादी मनःस्थिति का प्रभाव या प्रति-बिम्ब स्पष्ट दिखायी पड़ता है। जिस प्रकार अन्य रहस्यवादी रचयिताओं ने क्रमा-गत रूढ़ियों एवं बाह्याचारों का खण्डन करते हुए पारमार्थिक तत्त्वों की उपलब्धि के अनुरूप यत्नों और दिशाओं को महत्त्व दिया है—यही स्थिति इन जैन-मुनियों की भी है। लगता है कि इस अवधि में आचार या साधन को ही साध्यता की कोटि प्राप्त होती जा रही थी—फलतः कट्टर साम्प्रदायिक लकीरों और रेखाओं के प्रति इनके मन में भी उग्र आक्रोश था और उस झुंझलाहट को वे उसी उग्र स्वर में व्यक्त करते हैं जिस स्वर में सिद्धों, नाथों और निर्गुनियों ने आक्रोश-गर्भ उद्गार व्यक्त किये थे। प्रो. हीरालाल जैन ने ठीक लिखा है, "इन दोहों में जोगियों का अगम, अचित्-चित्, देह, देवली, शिवशक्ति, संकल्प-विकल्प, सगुण, निर्गुण, अक्षर-बोध, विबोध, वाम-दक्षिण-अध्व, रवि-शशि, पवन, काल आदि ऐसे शब्द हैं और उनका ऐसे गहन रूप में प्रयोग हुआ है कि उनमें हमें योग और तांत्रिक ग्रंथों का

स्मरण हुए विना नहीं रहता । संप्रति, **आगम संत संवादी** स्वरों में से एक-एक का पर्यवेक्षण प्रस्तुत है।

(१) परतत्त्व संबंधी वैचारिक या सैद्धान्तिक पक्ष

ऊपर यह स्पष्ट कहा जा चुका है कि जैन धारा में आत्मा ही मुक्त दशा में परमात्मा है, वह अनेक है और अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य का भण्डार है। अशुद्ध दशा में उसके ये गुण कर्मों से ढंके रहते हैं। पर इस मान्यता के साथ-साथ उक्त ग्रंथों में ऐसी कई वातें पायी जाती हैं, जो निःसंदेह आगमिक धारा की हैं। संतों की भाँति जैन मुनियों के भी वे ही तांत्रिक ग्रंथ स्रोत हैं। वौद्धों की भाँति जैनों पर भी यह प्रभाव दृष्टिगत होता है। आगमिकों की भाँति जैन मुनियों ने भी परमात्म भाव को "समरस" ही नहीं कहा है। "शिव-शक्ति" को समरूप या अद्वयात्मक रूप भी कहा है। मुनि रामसिंह ने कहा है—

सिव विणु सन्ति ण वावरह, सिद पुणु सन्ति विहीणु ।
दोहि मि जाणहिं सयलु जगु, वुज्झइ मोह—वि णु ।।
(पाहुड़ दोहा) ।

शक्तिरहित शिव कुछ नहीं कर सकता और न तो शक्ति ही शिव का आधार ग्रहण किये विना कुछ कर सकती है। समस्त जगत् शिव-शक्तिमय है। जड़ परमाणु अपनी समस्त संरचना में गतिमय या सस्पंद है, जो शक्ति का ही स्थूल परिणाम है। दूसरी ओर जीवन भी डी. एन. ए. तथा आर. एन. ए. के संयुक्त रूप में द्वयात्मक है। एकत्र वही शक्ति शिव ऋणात्मक धनात्मक अवयव हैं अन्यत्र स्त्रीत्व तथा पुंसत्व का सम्मिलन इस प्रकार सारा जगत् द्वयात्मक है, जो अपनी निरपेक्ष स्थिति में अद्वयात्मक है। संत साहित्य के अंतर्गत राधास्वामी तथा गुरु नानक ने भी इस सिद्धान्त का वृद्ध रूप में निरूपण किया है। परतत्त्व या परमात्मा को समरस कहना द्वयात्मकता सापेक्ष ही तो है। अभिप्राय यह कि भूल धारणा आगम-सम्मत है—वही इन जैन मुनियों की उक्तियों में तो प्रतिविम्वित है ही, संतों ने भी 'सुरत' तथा 'शव्द' के द्वारा तांत्रिक वौद्ध सिद्धों ने "शून्यता" और "करुणा" तथा "प्रज्ञा" और "उपाय" के रूप में उसी धारणा को स्वीकार किया है। अन्यत्र "समरसीकरण" की भी उक्तियाँ हैं—

मणु मिलियउ परमेसर हो, परमेसरु जि मणस्स ।
विण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्जु चडावउ कस्स ।।

मन परमेश्वर से तथा परमेश्वर मन से मिलकर समरस हो जाता है और जव यह सामरस्य हो गया, तव द्वैत का विलय भी हो जाता है। द्वैत का विलय हो जाने से कौन पूजक और कौन पूज्य ? कौन आराधक और कौन आराध्य ? फिर तो—

"तुभ्यं मह्यं नमो नमः"

कि स्थिति आ जाती है। इस तरह सामरस्य की अनेकत्र चर्चा उपलब्ध हो जाती है।

देह महेली एह वढ़ तउ सत्तावइ ताम।
चित्तु णिरंजणु परिणु सिहु समरसि होइ ण जाम ।।

लक्ष्य के रूप में इसी "सामरस्य" की उपलब्धि भी उन्हें इष्ट है। सतों ने जिस मनोन्मनी दशा की ओर संकेत किया है, उसका पूर्वाभास इन लोगों में भी उपलब्ध है—

तु इ बुद्धि तड़त्ति जहिं मणु अं वणहं जाइ ।
सो सामिय उ एसु कहि अणणहिं देवहिं काइ ।।

इस सामरस्य की उपलब्धि हो जाने पर बुद्धि का "अध्यवसाय" तथा मन की संकल्प-विकल्पात्मक वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। आगम-संवादी संतों के स्वर में अन्य देवताओं की उपासना से विरति तथा उक्त गंतव्य की उपलब्धि ही स्वामी की ओर से इन्हें है। कहीं-कहीं तो संतों और इन जैन मुनियों की उक्तियाँ एक दूसरे का रूपान्तर जान पड़ती हैं। नमक और पानी के एक ही दृष्टान्त से जो बात रामसिंह कहते हैं वही कबीर भी–

जिमि लोण विलिज्जइ पाणियह तिम जइ चित्त विलिज्ज।
समरसि हूवइ जीवहा काह समाहि करिज्ज ?
ठीक इसी की प्रतिध्वनि कबीर में देखें–
मन लागा उनमन्न सौं उनमन मनहि विलग ।
लूंण विलगा पांणया, पांणी लूणा विलग ।।

(२) वासना-दमन की जगह वासना-शोधन और उसकी सहजानंद में स्वाभाविक परिणति के संकेत

बौद्ध सिद्धों के समकालीन जैन संतों में भी चरमावस्था के लिए "सहजानन्द" शब्द का प्रयोग मिलता है। संतों ने तो शतशः सहस्रशः "सहज" की बात कही है। भारतीय साधना धारा में जैन मुनियों के "कृच्छ्र" के विपरीत ही "सहज" साधना और साध्य की बात संभव है प्रचलित हुई हो। अध्यात्म साधना में मन का एकाग्रीकरण विक्षेपमूल वासना या काषाय के शोषण से तो "श्रमण" मानते ही थे, दूसरे प्रवृत्तिमार्गी आगमिक साधक ऐसी कुशलता सहज पा लेना चाहते थे कि वासनारूपी जल में रहकर ही विपरीत प्रवाह में रहना उन्हें आ जाए। साधकों को यह प्रक्रिया दमन की अपेक्षा अनुकूल लगी। तदर्थ वासनाजन्य अधोवर्ती स्थिति का ऊर्ध्वीकरण अगामित था। जैन साधकों के अपभ्रंश काव्य में तो संकेत खोजे जा सकते हैं, पर भाषाकाव्य में कबीर के बाद स्पष्ट कथन मिलने लगते हैं। जैन मरमी आनंदघन की रचनाएँ साक्षी हैं। वे कहते हैं—

आज सुहागन नारी, अवधू आज सुहागन नारी ।
मेरे नाथ आप सुध लीनी, कीनी निज अंगचारी ।
प्रेम प्रतीति राग रुचि रंगत, पहिरे झीनी सारी ।
मंहिदी भक्ति रंग की राँची, भाव अंजन सुखकारी ।
सहज सुभाव चुरी मैं पहिनी, थिरता कंकन भारी ।। इत्यादि ।

इन पंक्तियों में क्या "संतों" का स्वर नहीं है? संतों की भाँति इन अपभ्रंश जैन कवियों में भी "सहज" शब्द का प्रयोग साधन और साध्य के लिए हुआ है। आनंदतिलक ने "आणंदा" नामक काव्य में स्पष्ट कहा है कि कृच्छ्र साधना से कुछ नहीं हो सकता, तदर्थ "सहज समाधि" आवश्यक है—

जापु जवइ वहु तव तवई तो वि ण कम्म हणेइ ।

× × ×

सहज समाधिहिं जाणियइ आणंदा ने जिण सासणि सारु ।

इसी प्रकार मुनि जोगीन्दु ने भी कहा है कि सहज स्वरूप में ही रमण करना चाहिये —

सहज सरूवइ जइ रमहि तो पायहि सिव सन्तु । —योगसार

सहज स्वरूप में जो रमता है—वही शिवत्व की उपलब्धि कर सकता है। छीहल ने तो चरमप्राप्य को "सहजानंद" ही कहा है—"हउं सहजाणंद सरूव सिंधु"। रामसिंह तो सहजावस्था की वात वार-वार कहते हैं।

इस प्रकार जैन धारा इन वातों में अपना प्रस्थान पृथक् रखती आ रही है—(१) परतत्व की द्वयात्मकता (२) द्वैत का समस्तविध निषेध तथा (३) वासना शोधन का सहज मार्ग; इन आगमिक विशेषताओं का प्रभाव जैन अपभ्रंश काव्यों में उपलब्ध होता है। मध्यकाल की भाषावद्ध अन्यान्य रचनाओं में आगमसंवादी संतों की पारिभाषिक पदावलियाँ इतनी अधिक उदग्र होकर आयी हैं कि जैन कवियों या मुनियों का नाम हटा देने पर पर्याप्त भ्रम की गुंजाइश है।

इन महत्त्वपूर्ण प्रभावों के अतिरिक्त ऐसी कई और भी अनेक वातें हैं जिन्हें "संतों" के संदर्भ में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए—(१) पुस्तकीय ज्ञान की निन्दा, (२) भीतरी साधना पर जोर, (३) गुरु की महत्ता, (४) वाह्याचार का खण्डन आदि।

(१) आगम "वहिर्योग" की अपेक्षा "अन्तर्योग" को महत्त्व देते हैं और सैद्धान्तिक वाच्यवोध की अपेक्षा व्यावहारिक साधना को भी। सैद्धान्तिक वाच्यवोध में जीवन खपाने को प्रत्येक साधक व्यर्थ समझता है—यदि वह क्रिया के अंग रूप में नहीं है। संतों ने स्पष्ट ही कहा है—"पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय"। 'परमात्म-प्रकाश-सार' का कहना है—

'सत्थ पढ़ंतु वि होइ जंहु जो ण हणेइ वियप्पु ।
देहिं वसंतु वि णिम्मलक णवि मण्णउइ परमप्पु ।।

(शास्त्रानुशीलन के वाद भी यदि विकल्प-जाल का विनाश न हुआ तो ऐसा शास्त्रानुशीलन किस काम का ?) इसी वात को शव्दान्तर से "योगसार" कार ने भी कहा है--

'जो णवि जण्णइ अप्पु पर णवि परमाउ चएइ ।
सो जाणद सत्थइं सकल णहु सिव सुवसु लहेइ ।।

(जिसने सकल शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करके भी यह न जाना कि क्या उपादेय और हेय है--आत्मीय और परकीय है, संकीर्ण स्वपर-भाव में व्यस्त रहकर जिसने परभाव का त्याग नहीं किया--वह शिवात्मक सुख की उपलव्धि किस प्रकार कर सकता है ?)। इसी प्रकार 'दोहा पाहुड़' कार का भी विश्वास है कि जिस पण्डित शिरोमणि ने पुस्तकीय ज्ञान में तो जीवन खपा दिया, पर आत्मलाभ न किया, उसने कण को छोड़कर भूसा ही कूटा है।

पंडिल पंडिय पंडिया कणु छंदिवि तुस कंडिया ।
अत्थे गंथे तुट्ठो सि परमस्थु ण जाणहि मूढ़ोसि ।।

(२) पुस्तकीय ज्ञान की अवहेलना के साथ संतों का दूसरा संवादी स्वर है--भीतरी साधना या अंतर्योग पर वल । सिद्धों, नाथों और संतों की भाँति इन जैन मुनियों ने भी कहा है कि जो साधु वाह्य लिंग से तो युक्त है किन्तु आंतरिक लिंग से शून्य है वह सच्चा साधक तो है ही नहीं, विपरीत इसके मार्ग-भ्रष्ट है। सच्चा लिंग भाव है--भावशुद्धि से ही आत्मप्रकाश संभव है । 'मोक्ख पाहुड़' में कहा गया है--

बाहिर लिंगेण जुदो अभ्यंतरलिंगरहिय परियम्मो ।
सो सगचरित्तमट्टो मोव व पहविणासगो साहू ।।

इसी बात को शव्दान्तर से कुंदकुंदाचार्य ने "भाव पाहुड़" में भी कहा है--

भावो हि पढमलिंगं न दिव्यलिंगं च जाण परमत्यं ।
भावो कारणमूदो गुणदोसाणं जिणाविति ।।

(३) अन्तर्योग पर वल ही नहीं, उससे विच्छिन्नमूल वहिर्योग, वाह्यलिंग अथवा वाह्याचार का उसी आवेश और विद्रोह की मुद्रा में इन जैन मुनियों ने खण्डन किया है। आनन्दतिलक ने स्पष्ट ही कहा है कि कुछ लोग वालों को नुचवाते हैं अथवा व्यर्थ में कष्ट वहन करते हैं, परंतु इन सवका फल जो आत्मविंदु का वोध है, उससे अपने को वंचित रखते हैं--

केइ केस लुचावहिं, केइ सिर ज मार ।
अप्पविंदु ण जाणहिं आणंदा किन जावहिं भयपार ?

मुनि योगीन्दु ने भी कहा है कि जिन लोगों ने जिनवरों का केवल बाहरी वेष-मात्र अपना रखा है, भस्म से केश का लुञ्चन किया है किंतु अपरिग्रही नहीं हुआ—उसने दूसरों को नहीं अपने को ठगा है। इसी प्रकार इन मुनियों ने तीर्थ-भ्रमण तथा देवालय-गमन का भी उग्र स्वर में विरोध किया है। मुनि योगीन्दु ने तीर्थ-भ्रमण के विषय में कहा है—

तित्थइं तित्थु भमंताईं मूढ़हं मोक्ख ण होइ।
णाण वि वज्जिउ जेण जिय मुणिवरु होइ ण सोइ ॥

(४) चौथी समानता संतों, सिद्धों और रहस्यवादी नाथों से आगमिक परम्परा से प्रभावित इन जैन मुनियों की यह है कि ये भी बहिर्मुखी साधना से हटकर शरीर के भीतर की साधना पर बल देते हैं। देवसेनाचार्य ने 'तत्त्वसार' में स्पष्ट कहा है—

थक्के मण संकप्पे रुद्धे अव वाण विसयववारे।
पगटइ बंभसरूवं अप्पा झाणेण जो ईणं ॥

आत्मोलब्धि करनी है तो मनोदर्पणगत काषाय मल का अपवारण आवश्यक है। रत्नत्रय ही मोक्ष है, किंतु उसका पोथियों से नहीं, स्वसंवेदन से ही संवेद्यता संभव है। स्वसंवेदन अपने से ही अपने को जानना है। इसलिए उक्त दोहे में कहा गया है कि यह स्व-संवेदन ही है जिसके द्वारा मन के संकल्प मिट जाते हैं, इंद्रियाँ विषयों से उपरत हो जाती हैं और आत्मध्यान से योगी अपना स्वरूप जान लेता है।

(५) पाँचवाँ साम्य है—गुरु-माहात्म्य या महत्त्व का। आगमसम्मत धारा चूंकि साधन को सर्वाधिक महत्त्व देती है, अतः निर्देशक के अभाव में वह कार्यान्वित हो नहीं सकती। संतों ने 'गुरु' को परमात्मा का शरीरी रूप ही कहा है। जैन मुनियों में भी गुरु-महिमा का स्वर उतना ही उदग्र है। मुनि रामसिंह ने 'पाहुड़ दोहा' में गुरु की वंदना की और कहा है—

गुरु दिणयरु गुरु हिमकिरणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
अप्पापरहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ ॥

अर्थात् गुरु दिनकर, हिमकर, दीप तथा देव सब कुछ हैं। कारण, वही तो आत्मा और अनात्मा का भेद स्पष्ट करता है। यह सद्गुरु ही है जिसके प्रसाद से केवलज्ञान का स्फुरण होता है। उसी की प्रसन्नता का यह परिणाम है कि साधक मुक्ति-रूपी स्त्री के घर निवास करता है।

केवलणणवि उपज्जइ सद्गुरु वचन पसावु।

निष्कर्ष यह कि अपभ्रंशबद्ध जैन काव्यों में उस स्वर का स्पष्ट ही पूर्वाभास उपस्थित है जो सन्तों में लक्षित होता है। □

विशेषांक के लेखक

माणकचन्द कटारिया : प्रवुद्ध चिन्तक, लेखक; संपादक 'कस्तूरवा-दर्शन,' कस्तूरवाग्राम, जि. इन्दौर (म. प्र.),

मुनि देवेन्द्रविजय : श्रीमद् विजययतीन्द्रसूरि के विद्वान् शिष्य, 'साहित्यप्रेमी', व्याख्यानकर्ता, लेखक; वर्षावास-संपर्क : श्री मोहनखेड़ा तीर्थ, राजगढ़, जि. धार (म. प्र.)।

मुनि जयन्तविजय 'मधुकर' : श्रीमद् विजययतीन्द्रसूरि के अन्तेवासी शिष्य, कवि, लेखक, प्रवचनकार; वर्षावास-संपर्क : श्री मोहनखेड़ा तीर्थ, राजगढ़, जि. धार म(.प्र.),

शा इन्द्रमल भगवानजी : विचारक, लेखक; वागरा, (मारवाड़), जि. जालोर (राजस्थान)।

मुनि जयप्रभविजय : श्रीमद् विजययतीन्द्रसूरि के विद्वान् शिष्य, लेखक, प्रवक्ता; वर्षावास-संपर्क : श्री मोहनखेड़ा तीर्थ, राजगढ़, जि. धार (म. प्र.)।

राजमल लोढ़ा : संपादक 'दैनिक ध्वज', मन्दसौर (म. प्र.)।

मदनलाल जोशी : शास्त्री, साहित्यरत्न; जीवागंज, मन्दसौर (म. प्र.)।

उपाध्याय मुनि विद्यानन्द : श्रमण संस्कृति के समन्वयकारी उन्नायक, विश्वधर्म के प्रणेता, संतप्रवर, प्रखर अध्येता, चिन्तक, लेखक, वक्ता; वर्षावास-संपर्क : स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी (हरियाणा)।

भवानी प्रसाद मिश्र : कवि, लेखक; संपादक 'गांधी-मार्ग' (हिन्दी), २९ राजघाट कॉलोनी, नई दिल्ली-१ ।

डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री : अपभ्रंश के विद्वान्, लेखक; सहायक प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, शासकीय महाविद्यालय, नीमच; शंकर ऑइल मिल के सामने, नई-बस्ती, नीमच (म. प्र.) ।

दिनकर सोनवलकर : कवि; सहायक प्राध्यापक, दर्शन-विभाग, शासकीय महाविद्यालय, जावरा; जी-३, स्टाफ क्वार्टर्स, जावरा, जि. रतलाम (म. प्र.) ।

नईम : नवगीतकार; सहायक प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, शासकीय महाविद्यालय, देवास; राधागंज, देवास (म. प्र.) ।

डॉ. छैल विहारी गुप्त : कवि; आनन्द भवन, माधवनगर, उज्जैन (म. प्र.) ।

डॉ. भगवतशरण उपाध्याय : पुरातत्त्व के प्रकाण्ड विद्वान्, लेखक, समीक्षक; ९, प्रीतम मार्ग, देहरादून (उ. प्र.) ।

पं. दलसुखभाई मालवणिया : जैन दर्शन और श्रमण संस्कृति के समीक्षक, विद्वान्; निदेशक, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या-मन्दिर (एल. डी. इन्स्टिट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी), अहमदाबाद-९ (गुजरात) ।

मुनि नथमल : अणुव्रत-अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी के वरिष्ठ सहयोगी, जैन दर्शन और धर्म के मर्मज्ञ विद्वान्, प्रखर विचारक, लेखक; संपर्क : आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान) ।

डॉ. प्रेमसागर जैन : लेखक, समीक्षक; अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, दिगम्बर जैन कॉलेज बड़ौत (उ. प्र.) ।

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी : लेखक, समीक्षक; अध्यक्ष, हिन्दी अध्ययन शाला विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म. प्र.) । □

(पृष्ठ १६२ का शेष)

जाति का जन्म कुछ सदियों से हो गया था, जिसके नवियों के समान शक्तिम स्वर में धार्मिक नेता कहीं और कभी न बोले थे। वह जाति थी यहूदी, फिलिस्तीन की जूदिया, इस्राइल की इब्राहीम और मूसा की सन्तान। शाब्दिक शक्ति और चुनौती भरी वाणी में असत्य का सामना और अत्याचार का प्रतिकार करने में उनका संसार में कोई सानी नहीं। उन्हीं में कालान्तर में ईसा और बतिस्मावादी योहन का जन्म हुआ। पर हम बात तो उनकी कह रहे हैं, जिन्होंने खूनी असुर सम्राटों को ललकारा था और निर्भीकता का—राजनीति और धर्म के क्षेत्र में साका चलाया था, उनकी जो महावीर के समकालीन थे, उनको ही कुरूष ने खल्दी सम्राटों के बन्धन से बाबुल में मुक्त किया था।

एकेश्वरवाद की कल्पना सबसे पहले यहूदियों ने की, यहवा अथवा जेहोवा ने की, जिसका नाम ऋग्वेद तक में विशेषण के रूप में इन्द्र, वरुण आदि महान् आर्य देवताओं के नामों के साथ जुड़ा मिलता है। यहूदियों, विशेषकर उनके नवियों के लिए अन्य देवता का इस्राइल में पूजा जाना असह्य था। अत्याचारियों को धिक्कारने का सत्-कार्य एलिजा और एलिशा के समय ही आरम्भ हो गया था। इस्राइया ने महावीर से सौ साल पहले ही शान्ति के पक्ष में युद्ध के विरोध में, पहली आवाज उठायी थी—"उन्हें अपनी तलवारों को गलाकर हल के फल बनाने पड़ेंगे और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध तलवार नहीं उठा सकेगा।" जैरेमिया ने असुर सम्राट् असुरबनिपाल के विध्वंसात्मक आक्रमण से अपनी जनता को तो आगाह किया ही था, उस सम्राट को भी उसकी खूनी युद्ध-नीति के लिए धिक्कारा था।

नाहूम के जीवन-काल में ही महावीर जन्मे थे। सर्वहर्ता-सर्वनाशी असुर सम्राटों की राजधानी निनेवे को उसके विध्वंस के पूर्व, नाहूम ने चुनौती और धिक्कार के स्वर में ललकारा था—"देख और सुन ले, निनेवे, इस्राइल का देवता तेरा दुश्मन है—देख, तेरी कारसाजी, तेरे खूनी कारनामे, तुम्हें नंगा करके, हम राष्ट्रों और जातियों को दिखा देंगे। तू चैन की नींद नहीं सो पायेगा, आग की लपटों में जल मरेगा। तेरे शासक, तेरे अभिजात बिखर जाएँगे, दूर-दूर पहाड़ी चोटियों पर टुकड़े-टुकड़े होकर कुचल जाएँगे। उन्हें कोई इकट्ठा न कर पायेगा, तेरा कोई नामलेवा, पुरसाहाल न रहेगा। सुनले, निनेवे, सावधान हो जा।" और नाहूम की आवाज अभी माहौल में गूंज ही रही थी कि निनेवे जलाकर नयी उठती हुई आर्यों की शक्ति से नष्ट कर दिया गया।

इस्राइया जब अपनी शक्तिम भविष्यवाणी से दिशाएँ गुंजा रहा था तब महावीर ४० साल के थे। उसने अपनी आवाज से अपनी जनता यहूदियों को फिर-फिर जगाया। इसी के समय बाबुली कैद से कुरूष ने. महावीर के जीवन-काल में ही नवियों को छुड़ाया। जहाँ वे दशकों से बन्दी रहे थे, और धार्मिक नेताओं के साथ वह भी इस्राइल लौटा और कुछ ही दिनों बाद सुलेमान (सलोमन) का विध्वस्त मंदिर फिर जुरूशलम में उठ खड़ा हुआ।

इस्राइली यहूदी नबी बाबुली कैद में कुचले जाते रहे, पर उन्होंने अपने धार्मिक विश्वासों पर आँच नहीं आने दी, न अपना धर्म छोड़ा, न यहवे के अतिरिक्त किसी दूसरे देवता को स्वीकार किया। उसी कैदखाने में उन्होंने अपनी धर्म-पुस्तक के पाँच आधार "पेन्तुतुत्व" लिखे, जो बाइबिल में पुरानी पोथी "ओल्ड टैस्टामेन्ट" के नाम से प्रसिद्ध हुए। □

(राजेन्द्रसूरि का समकालीन भारतः पृष्ठ ९४ का शेष)

था। अंग्रेज अपनी ओर से यूरोपीय सभ्यता और संस्कृति को भारतीयों पर थोपने की पूरी कोशिश कर रहे थे। दयानन्द सरस्वती का आर्यसमाज, राजा राममोहन राय का ब्रह्मसमाज, रानाडे का 'प्रार्थना-समाज' देश में एक नयी चेतना के लिए कटिबद्ध थे। सबका लक्ष्य राष्ट्र में नवजागरण लाना था। वे अंग्रेजों की गुलामी के प्रति भी असहिष्णु होने लगे थे। उन्हें लग रहा था कि इन विदेशियों को इस धरती पर से आज नहीं तो कल हटाना होगा और तदनुरूप वातावरण की रचना करना होगी। १८५४ में श्रीनारायण गुरु, १८५६ में बाल गंगाधर तिलक, १८६१ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, १८५८ में जगदीशचन्द्र वसु, १८६४ में स्वामी विवेकानन्द और १८६९ में मोहनदास करमचन्द गाँधी के जन्म हो चुके थे। राजनीति, धर्म और संस्कृति सभी क्षेत्रों में एक व्यापक क्रान्ति जन्म लेने वाली है, ऐसे आसार स्पष्ट दिखायी देने लगे थे। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उदय महत्त्वपूर्ण था। कहा जाएगा कि साहित्य, संस्कृति, विज्ञान, भाषा, लिपि, राजनीति, अर्थ और उद्योग सभी क्षेत्रों में क्रान्ति का मंगलाचरण पढ़ा जा चुका था। सूरिजी की क्रान्ति यद्यपि उतनी आधुनिक नहीं थी और उनका इनमें से किसी से कभी साक्षात् नहीं हुआ तथापि उनके कार्य-कलाप से इस बात की स्पष्ट सूचना मिलती है कि वे जो कुछ कर रहे थे, उसकी लय उन दिनों की क्रान्ति-भावना से तालमेल रखती थी। "सत्यार्थ प्रकाश", "भारतीय प्राचीन लिपि माला" और "अभिधान-राजेन्द्र" भाषाई क्रान्ति की दृष्टि से महत्त्व के ग्रन्थ थे। सूरिजी की "कल्पसूत्र की बालावबोधिनी टीका" जो सरल गुजराती किन्तु नागरी लिपि में प्रकाशित हुई, एक महत्त्व की रचना थी। उसने धार्मिक होने के कारण यद्यपि सारे भारतीयों को नहीं छुआ तथापि उसका अपना महत्त्व है भाषा और लिपि की दृष्टि से। उसी तरह १८९९ में सम्पादित "पाइयसद्दंबुहि" और १९०३ में तैयार सूरिजी का "अभिधान-राजेन्द्र" विश्वकोश प्राच्यविद्या के क्षेत्र में महत्त्व की रचनाएँ थीं। उनका महत्त्व कम से कम उतना तो है हीं कि जितना १८८१ में प्रकाशित बंकिमचन्द्र चटर्जी के "आनन्दमठ" का, १८९४ में प्रकाशित "भारतीय प्राचीन लिपिमाला" का, या भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की "अन्धेर नगरी" और "भारत-दुर्दशा" कृतियों का। इन सभी कृतियों ने अपने स्थान पर जो गजब किया है, उसकी कल्पना हम आज नहीं कर सकते। एक ऐसे समय जबकि पढ़ने के किसी स्पष्ट माध्यम का उदय नहीं हो पाया था और अंग्रेज अपनी पूरी ताकत से देशी भाषाओं के अध्ययन को हतोत्साहित कर रहे थे, सीमित क्षेत्रों में ही सहीं इन समस्त कृतियों का राष्ट्रीय महत्त्व था। सूरिजी ने प्राच्य-विद्या के क्षेत्र में तथा लोकभाषा के क्षेत्र में, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी के क्षेत्र में और हीराचन्द गौरीशंकर ओझा ने लिपि के क्षेत्र में समानान्तर महत्त्व की भूमिकाएँ निभायीं।

जब १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो रही थी, सूरिजी अहमदाबाद में वर्षावास कर रहे थे। वे अपनी एकान्त साधना में पूरे मनोयोग से लगे हुए थे, उनकी किसी कृति में कहीं भी भारतीय राजनीति या संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों की झलक नहीं है। इसका एक स्पष्ट कारण यह भी है कि एक जैन साधु को धर्म और दर्शन के अतिरिक्त क्षेत्रों में कार्य करने की छूट नहीं है; इसीलिए सम्भवतः उन्होंने धर्म के माध्यम से जो भी नवजागृति सम्भव थी, घटित की; शेष साधनों का उपयोग न कर पाना उनकी विवशता थी। रेलें चलना आरम्भ हो चुकी थीं। १८५३ में जब वे जैसलमेर में वर्षावास सम्पन्न कर रहे थे, देश में रेल की पाँतें बिछायी जा रही थीं और तार का एक बड़ा जाल फैलाया जा रहा था। अंग्रेज यह सब अपनी दिलचस्पियों के कारण ही कर रहे थे किन्तु इनका भी अपना महत्त्व था। भारतीय लोकजीवन में आगे चलकर जो क्रान्ति घटित हुई, ये आविष्कार उसके बहुत बड़े माध्यम सिद्ध हुए। छापाखाने के आ जाने से भारतीय भाषाओं के विकास में बहुत बड़ी सहायता मिली। सूरिजी अन्य साधुओं की भाँति कट्टरपन्थी नहीं थे। एक हद में वे उन सारे साधनों का उदारता से उपयोग करना चाहते थे, जिन्हें बिना किसी बड़े धार्मिक परिवर्तन के लिए किया जा सकता था। जैन शास्त्रों का उन दिनों छपाई की प्रक्रिया में डाला जाना, स्वयं एक क्रान्तिकारी घटना थी। सूरिजी ने निःसंकोच "कल्पसूत्र की बालावबोध टीका" को मुद्रण की प्रक्रिया में डाल दिया। इससे जहाँ एक ओर भारतीय भाषा के प्रसार में सहायता मिली वहीं दूसरी ओर नागरी लिपि का भी प्रसार हुआ। "अभिधान-राजेन्द्र", जो आगे चलकर प्रकाशित हुआ और जिसमें ९,२०० पृष्ठ हैं, संस्कृत, अर्द्धमागधी और प्राकृत से सम्बन्धित है; इसे भी उन्होंने १९०६ ई० में मुद्रण की प्रक्रिया में डाल दिया। वे इसका पहला फार्म ही देख पाये और उनका निधन हो गया। बाद में तो वह छपा ही, किन्तु उनके जीवन-काल में ही उन्होंने उन सारे साधनों को उदारतापूर्वक अपना लिया था, जिनसे अहिंसा और अपरिग्रह का पालन करते हुए भी लाभ उठाया जा सकता था।

नीचे हमने उन सारी घटनाओं की एक तुलनात्मक तालिका दी है, जो राजेन्द्रसूरिजी के जीवन-काल में देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में घटित हुई हैं। इनकी तुलना से राजेन्द्रसूरिजी की एकान्त साहित्य-साधना और क्रान्ति-निष्ठा का समीक्षात्मक अध्ययन किया जा सकता है और स्पष्ट देखा जा सकता है कि एक असंपृक्त व्यक्ति भी किस तरह युग-चेतना से प्रभावित होकर अपनी भूमिका का एक सीमित क्षेत्र में निभाव कर सकता है। हमें विश्वास है अधोलिखित घटना-तालिका से राजेन्द्रसूरिजी के समकालीन भारत की एक झलक हमें मिल सकेगी और हम उनके योगदान का एक वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन कर सकेंगे। तालिका इस प्रकार है—

राजेन्द्रसूरि का समकालीन भारत (१८२७–१९०६)

घटनाओं की तुलनात्मक तालिका

वर्ष	राजेन्द्रसूरि के जीवन से	भारतीय इतिहास से
१८२७	जन्म	—
१८२८	—	राजाराम मोहनराय द्वारा ब्रह्मसमाज की स्थापना
१८२९	—	लार्ड वैंटिक द्वारा सती-प्रथा अवैध घोषित
१८३३	—	राजा राममोहनराय का निधन
१८३७	—	मौर्य-युग की ब्राह्मी-लिपि को पहिचान लिया गया
१८३८	अग्रज माणकलालजी के साथ जैन-तीर्थों की वन्दना	केशवचन्द्र सेन और बंकिमचन्द्र चटर्जी का जन्म
१८३९	—	कर्नल टॉड के ग्रन्थ "एण्टीक्विटीज़ ऑफ राजस्थान" का प्रकाशन
१८४२	कलकत्ता और श्रीलंका का व्यापारिक प्रवास	—
१८४३	"	अंग्रेजों द्वारा सिन्ध-विजय
१८४४	"	—
१८४५	यति-दीक्षा	रेल-पथ बनाने के आयोजन का आरंभ
१८४६	—	अंग्रेजों द्वारा पंजाब-विजय
१८४७	—	दयानन्द सरस्वती द्वारा संन्यास-दीक्षा
१८४८	प्रमोदसूरिजी के साथ इन्दौर	—
१८५०	मन्दसौर में वर्षावास	बापूदेव शास्त्री के गणित विषयक हिन्दी ग्रन्थ का प्रकाशन
१८५१	उदयपुर में वर्षावास	बाजीराव पेशवा का निधन
१८५३	जैसलमेर में वर्षावास	रेल की पटरियाँ बिछायी गयीं और भारतीय पूंजी से पहली सूती मिल खड़ी हुई
१८५४	पाली में वर्षावास	श्रीनारायण गुरु (केरल) का जन्म
१८५६	किशनगढ़ में वर्षावास	बाल गंगाधर तिलक का जन्म
१८५७	चित्रकूट में वर्षावास	भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम, लन्दन विद्यापीठ के नमूने पर अंग्रेजी माध्यम से परीक्षा लेने वाले विश्वविद्यालयों की कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में स्थापना
१८५८	सोजत में वर्षावास	जगदीशचन्द्र बसु का जन्म, तात्या टोपे को मार डाला गया
१८६१	बीकानेर में वर्षावास	रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म
१८६३	रतलाम में वर्षावास	दयानन्द सरस्वती द्वारा लोककल्याण के लिए जीवनार्पण, स्वामी विवेकानन्द का जन्म

१८६५	दफ्तरी के रूप में नियुक्ति	भारत में इंग्लैंड तक भारतीय खर्च से पनडुब्बा तार डाला गया
१८६८	क्रियोद्धार	—
१८६९	"कलमनामें" पर सही	मोहनदास करमचन्द गांधी का जन्म
१८७०	रतलाम में वर्षावास	महादेव गोविन्द रानाडे द्वारा "प्रार्थना-समाज" की स्थापना
१८७३	"तीनयुई" सिद्धान्त पर वहस, रतलाम में वर्षावास	मोहम्मडन ओरियण्टल कालेज, अलीगढ़ की स्थापना
१८७५	आहोर में वर्षावास	"सत्यार्थ प्रकाश" का प्रकाशन, दयानन्द सरस्वती द्वारा आर्य समाज की स्थापना
१८७६	आहोर में वर्षावास	भारतीय विज्ञान परिषद् की स्थापना, राजस्थान में रेल की पटरियों का बिछाया जाना
१८७७	जालौर में वर्षावास, स्वर्णगिरि दुर्ग के मन्दिरों की मुक्ति के लिए अनशन	नेशनल मोहम्मडन एसोसिएशन की स्थापना, विक्टोरिया साम्राज्ञी बनी तदर्थ दिल्ली-दरवार
१८७८	राजगढ़ में वर्षावास	लार्ड लिटन द्वारा रु. का टकसालना वन्द
१८८१	शिवगंज में वर्षावास	दयानन्द सरस्वती की राजस्थान-यात्रा
१८८२	अलीराजपुर में वर्षावास, मोहन-खेड़ा तीर्थ की योजना का आरंभ	रूसी महिला मादाम व्लावत्स्की द्वारा थियोसॉफीकल सोसायटी की स्थापना 'आनन्दमठ' का प्रकाशन
१८८३	राजगढ़ में वर्षावास, मोहनखेड़ा तीर्थ की प्रतिष्ठा	दयानन्द सरस्वती का निधन
१८८५	अहमदाबाद में वर्षावास	भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना
१८८८	थराद में वर्षावास	यूनाइटेड इंडियन पैट्रियाटिक एसोसिएशन की स्थापना
१८९०	"अभिधान-राजेन्द्र" विश्वकोश का सियाणा में आरंभ	—
१८९३	निम्वाहेड़ा में वर्षावास	शिकागो में वर्ल्ड कान्फ्रेन्स ऑफ रिली-जन्स का आयोजन, स्वामी विवेकानन्द सम्मिलित
१८९४	राजगढ़ में वर्षावास	वंकिमचन्द्र चटर्जी का निधन, जगदीशचन्द्र वसु द्वारा संसार में पहली वार विना तार के विजली की लहर चलाकर वताने का प्रदर्शन, 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' का प्रकाशन
१८९९	"पाइयसद्दंवुहि" का संपादन	विक्रम संवत् १९५६ का छप्पन्याकाल
१९०२	जालोर में वर्षावास	विवेकानन्द का निधन, भारतीय धर्म महामण्डल की स्थापना
१९०३	सूरत में वर्षावास, "अभिधान-राजेन्द्र" विश्वकोश का समापन	दिल्ली-दरवार
१९०६	निधन	—

□□

श्री मोहनखेड़ा जैन महातीर्थ

आप जब भी मालव भूमि की यात्रा करने पधारें, यहाँ के एक महान् चमत्कारी श्री मोहनखेड़ा तीर्थ की यात्रा करना न भूलें। श्री आदिनाथ भगवान की ३१ इंच ऊँची भव्य मूलनायक प्रतिमा के दर्शन-वन्दन-पूजन कर महान् पुण्योपार्जन करें। पास ही पार्श्वनाथ भगवान के दो सुन्दर जिनालय हैं।

यहाँ समर्थ श्री जैनाचार्य आराध्यपाद विश्वपूज्य, भट्टारक प्रभु श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का महाप्रभावपूर्ण समाधि मन्दिर एवं परम पूज्य आचार्यदेव व्याख्यान वाचस्पति श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का स्मृति मन्दिर है। जिनके दर्शन-पूजन का भी लाभ प्राप्त होगा।

यहाँ आने के लिए अहमदाबाद, इन्दौर, बड़ौदा, उज्जैन, रतलाम, धार, मेघनगर आदि सभी स्थानों से बस-सर्विस है। राजगढ़ (धार) उतर कर वहाँ पश्चिम दिशा में मोहनखेड़ा आता है।

यात्रियों की सुविधा के लिए यहाँ दो विशाल धर्मशालाएँ भी हैं।

फोन नं. २५

निवेदक : श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन श्वेताम्बर पेढ़ी

व्यवस्थापक – मांगीलाल सौभाग्यमल पोरवाल

श्री मोहनखेड़ा तीर्थ, पो. राजगढ़, जिला धार (म. प्र.)

जिन अपराधों के लिए एक बार क्षमा माँगी जा चुकी है, उन्हीं के लिए पुनः क्षमा माँगना प्रमाद है और उन्हें फिर न होने देना सच्ची क्षमा है।

—राजेन्द्रसूरि

संसार में वैराग्य ही ऐसा है, जिसमें न किसी का भय है, न चिन्ता; अतः निर्भय वैराग्य मार्ग का आचरण ही सर्वदा सुखप्रद है।

—राजेन्द्रसूरि

जो मानव ऊँचे कुल में जन्म लेकर भी अपने आचार-विचार घृणित रखता है; उससे वह जो नीच कुलोत्पन्न है किन्तु अपना आचार-विचार सराहनीय रखता है, ऊँचा है ।

—राजेन्द्रसूरि

: जून १९७५/ २१०

जो

विषयाशाऽवशातीत

निरारंभी

अपरिग्रही और

ज्ञान-ध्यान तपोरक्त तपस्वी हैं,

जिनकी उपलब्धियाँ बेजोड़ हैं,

उन महागीतार्थ, सकलागम, रहस्यवदी, सरस्वती सुत, विश्ववंद्य,

प्रातःस्मरणीय महाप्रभु--आचार्य

श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

के प्रति

हम भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं

श्रीमती कपुबाई केसरीमलजी चिमनाजी, वागरा वालों का परिवार--
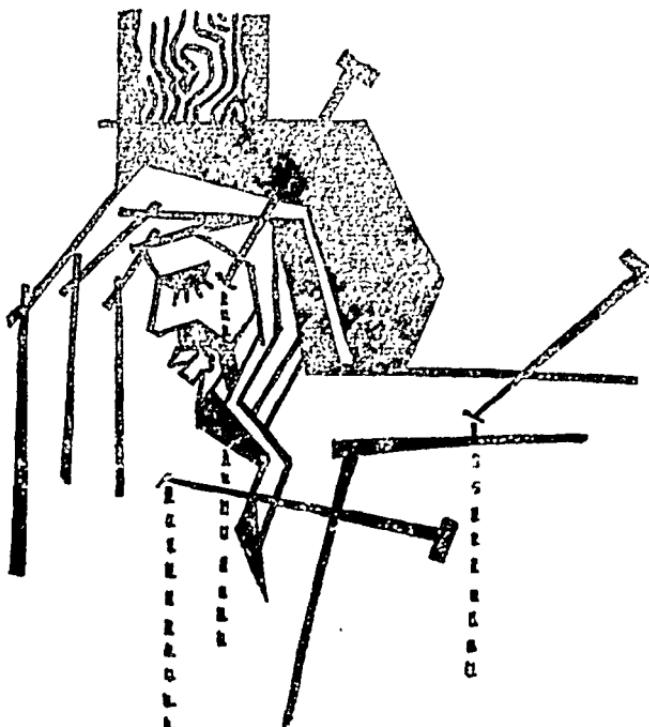
१. शाह फुलचन्द केसरीमल, बीजापुर
२. शाह देवीचन्द केसरीमल, वागरा
३. शाह वेलचन्द केसरीमल, जम्मू
४. शाह वसन्तीलाल केसरीमल, पूना
५. शाह जयन्तीलाल केसरीमल, वागरा
६. शाह चंचला लालचन्द, जावाल

मसीह-वाणी

धन्य हैं वे ...

धन्य हैं वे, जो मन के दीन हैं, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है।

धन्य हैं वे, जो शोक करते हैं, क्योंकि वे शान्ति पायेंगे।

धन्य हैं वे, जो नम्र हैं, क्योंकि वे पृथ्वी के अधिकारी होंगे।

धन्य हैं वे, जो धर्म के भूखे और प्यासे हैं, क्योंकि वे तृप्त किये जायेंगे।

धन्य हैं वे, जो दयावन्त हैं, क्योंकि उन पर दया की जायेगी।
धन्य हैं वे, जिनके मन शुद्ध हैं, क्योंकि वे परमेश्वर को देखेंगे।
धन्य हैं वे, जो मेल करवाने वाले हैं, क्योंकि वे परमेश्वर के पुत्र कहलायेंगे।

धन्य हैं वे, जो धर्म के कारण सताये जाते हैं, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है।

धन्य हो तुम, जब मनुष्य मेरे कारण तुम्हारी निन्दा करें और सतायें और झूठ बोल कर तुम्हारे विरोध में सब प्रकार की बुरी बात कहें।

आनन्दित और मगन होना, क्योंकि तुम्हारे लिए स्वर्ग में बड़ा फल है। इसलिए कि उन्होंने उन भविष्यवक्ताओं को जो तुमसे पहले थे, इसी रीति से सताया था।

—मैथ्यू-कृत 'सुसमाचार' से

(प्रेषक : रेव्ह. फादर वलेरियन डिसूझा)

संपर्क : अधिक जानकारी के लिए –

IHS Centre, 2008, St. Vincent Street,
POONA-1 (Maharashtra)

योगीराज हुए अपूर्व जग में,
त्यागी-विरागी प्रभो !
श्रीमच्छासन में हुए दिनमणि
सन्मार्गदर्शी प्रभो !
राजेन्द्राभिध कोश के विपुल धी
कर्ता गणाधीश को
मेरी हो शतवार वन्दन सदा
राजेन्द्र सूरीश को।

* आहोर के ठाकुर श्री यशवन्तसिंहजी ने आपको छड़ी, पालकी, सूरजमुखी आदि भेंट किये।

* शंभूगढ़ के चौमासी श्री फतेहसागरजी ने पाटोत्सव कर भेंट-पूजा कराई।

* जावरा के नवाब ने आपके युक्ति-संगत उत्तरों से प्रभावित होकर आपका सन्मान किया और आपको लवाजमा अर्पित किया।

परन्तु क्रियोद्धार के समय राजाओं द्वारा अर्पित सभी सन्मान उतार कर आप राज राजेन्द्र बन गये।

समय की गति और लोकमानस का रुख भली-भाँति पहचानकर जो व्यक्ति अपना व्यवहार निश्चित करता है, वह कभी किसी तरह की परेशानी में नहीं पड़ता; किन्तु जो लोग हठाग्रह या अल्पमति के वश होकर वक्त या लोकमत का अनादर करते हैं, वे किसी का प्रेम संपादित नहीं कर पाते और न ही व्यवहार के क्षेत्र में ही लाभान्वित हो पाते हैं।

—राजेन्द्रसूरि

जिस व्यक्ति ने मनुष्य-जीवन पाकर जितना अधिक आत्म विश्वास सम्पादित कर लिया है, वह उतना अधिक शान्तिपूर्वक सन्मार्ग पर आरूढ़ हो सकता है।
—राजेन्द्रसूरि

विनय मानवता में चार चाँद लगाने वाला गुण है। मनुष्य चाहे जितना विद्वान् हो, वैज्ञानिक और नीतिज्ञ हो; किन्तु जब तक उसमें विनय नहीं है, तब तक वह सबका प्रिय और सम्मान्य नहीं हो सकता। —राजेन्द्रसूरि